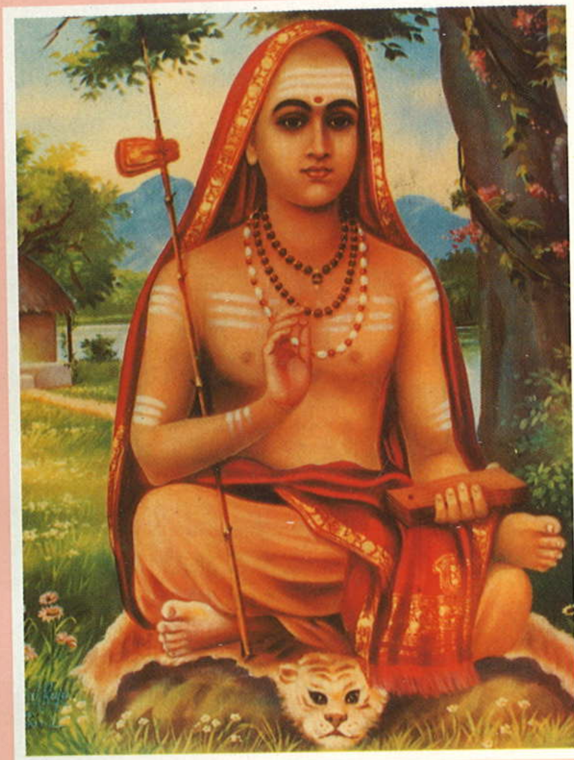
ॐ

श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम्

केनोपनिषत्

सटिप्पणानन्दगिरिटीकासंवलितशाङ्करपदभाष्यवाक्यभाष्यसमेता







जगद्गुरु भगवान् आदि शङ्कराचार्य भगवत्पाद



निर्देशक:

प्रकाशक— कैलास विद्या प्रकाशन

कैलास आश्रम, ऋषीकेश (उ०प्र०)

दिव्यवर्षपञ्चकं महोत्सव पर स्वर्गीय श्री डूँगरमल जी की पुण्य स्मृति में उनके सुपुत्र श्री रामनिवास सिंहल बी-२०४ अशोक विहार, दिल्ली की ओर से मुद्रित

प्रथम संस्करण २००० शरत्पूर्णिमा वि० सं० २०३९

द्वितीय संस्करण ३००० मूल्य ५0.00 महाकुम्भ पर्व, वि० सं० २०५४-५५

(संशोधित एवं परिष्कृत) ISBN 81-900625-7-3

पुस्तक प्राप्ति स्थान—

	दूरभाष
१. श्री कैलास आश्रम, मुनि की रेती, ऋषिकेश-२४९२०१	०१३५-४३०५९८
२. श्री कैलास आश्रम, उजेली, उत्तरकाशी-२४९१९३	२३६१
३. श्री दशनाम संन्यास आश्रम, भूपतवाला, हरिद्वार-२४९४०१	०१३३-४२७२०६
४. श्री राम आश्रम, समानामण्डी, पटियाला-१४७१०१	०१६९४-२०४५०
५. श्री कैलासविद्यातीर्थ, ६, भाई वीर सिंह मार्ग, नई दिल्ली - ११०००१	०११-३३४७४७५
६. श्री कैलासधाम, नई झूंसी, इलाहाबाद	
७. श्री कैलास आश्रम, मॉडलटाउन, रोहतक - १२४००१	
८. श्री कैलासविद्यातीर्थ, गिरियक रोड, राजगिर (नालन्दा) बिहार - ८०३११६	
९. श्री कैलासविद्याधाम कैलास नगर (रूप नगर) जम्मू	

सम्पादकीय

श्री कैलास विद्या प्रकाशन से चिरप्रतीक्षित उपनिषत् "केनोपनिषत्" को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे आनन्द की अनुभूति हो रही है। कैलास आश्रम के पीठाचार्य महाराजश्री ने जो दायित्व मुझ पर सौंपा है, उसे मैं पूर्ण करने की दिशा से निरन्तर अग्रसरित होता जा रहा हूँ। उपनिषद् विद्या की दुर्गम ग्रन्थियों को सुलझाने में प्रस्तुत प्रकाशनों का अपना एक विलक्षण स्थान है। विद्वद्वर्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ स्वामी गोविन्दानन्द गिरि जी महाराज के श्रीचरणों से प्राप्त विद्या को विद्यावाचस्पति महामण्डलेश्वर स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज ने टिप्पणियों का रूप दिया है जिनमें उनकी जीवनभर की तपस्या, त्याग, साधना एवं ब्रह्मनिष्ठा पदशः वाक्यशः देखने को मिलती है।

जीवन के बदलते मूल्यों में आज का साधारण मानव विभ्रान्त हो किंकर्तव्यविमूढ़ सा हो गया है। भौतिक समृद्धि को निरन्तर देखा जाने लगा है, सरल एवं बुद्धिगम्य होने के कारण "अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः" की तरह उसकी आत्यन्तिक परिणति समझे बिना उसका अनुकरण कर लिया जाता है। "समस्त दृश्यमान् पदार्थों की परीक्षा कर उनसे विरत होने की साधना में लगा रहे" श्रुति के ऐसा समझाने में जीव के आत्यन्तिक हित सम्पादन की करुणा छिपी हुई है। वासनाओं और इच्छाओं को बढ़ाने से न इस जन्म में शान्ति मिल सकती है, परलोक सुधारना तो दूर रहा। केनोपनिषत् जीवन को आत्मनिरीक्षण करने के लिये प्रेरणा देता है। यह शिष्य-गुरु संवाद के रूप में सृष्टि की गुह्यातिगुह्य गुत्थियों को दार्शनिक पद्धति में सुलझाता है। यथा "नित्य-उपलब्ध, निर्विशेष आत्मतत्त्व को जानकर बुद्धिमान् लोग अज्ञान निमित्त अध्यारोपित बुद्ध्यादि संज्ञक संसार से छूट कर अमृतत्व लाभ करते हैं" (केन॰ १-२)

"यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।।"

श्रुतियों के सिद्धांत का रहस्य केनोपनिषद् के इस छोटे से मन्त्र में ही है। अर्थात् "ब्रह्म जिज्ञासा से प्रवृत्त होकर जिसकी जिज्ञासा निवृत्त हो चुकी है, उसने आत्म रूप से ब्रह्म को जान लिया। ब्रह्मभाव प्राप्ति के बिना मिथ्याज्ञानी यदि कहे 'मैं उसे जानता हूँ' तो उसे वस्तुतः अज्ञों में ही सम्मिलित करना चाहिए; विदित और अविदित आदि धर्मों के आरोप से कार्यकारण भावरूप में जाना हुआ ब्रह्म सविकल्पक होने से तद्विषयक ज्ञान मिथ्या ही है" इत्यादि रूप से भगवान् भाष्यकार ने अपने वाक्यभाष्य में इसका अर्थ स्पष्ट किया है।

अपने शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि और वैभव का बल मनुष्य रखता है, होना भी स्वाभाविक ही है परन्तु केनोपनिषत् में इन इन्द्रियों के अभिमानी देवताओं के गर्व को चूर्ण किया गया है। सभी देवता भी इस महिमा को न समझ सके जिसे ब्रह्मविद्या के रूप में अवतीर्ण हो भगवती उमा ने सार रूप में समझा दिया।

"हे देवताओ! यह आपका मिथ्याभिमान ही है जो आप समझते हो कि हमारी ही यह विजय है, हमारी ही यह महिमा है"

साक्षात् ब्रह्मविद्या के इस सारभूत उपदेश को सुनकर देवताओं को तत्काल ब्रह्मज्ञान हो गया। उनके मिथ्याभिमान की आरोपित ग्रन्थियाँ तत्क्षण खुलकर उनमें आत्मज्ञान का प्रकाश हुआ। अन्य उपनिषदों में कहीं भी ब्रह्मविद्या ने साक्षात् अवतीर्ण हो उपदेश नहीं दिया, इससे इसकी महत्ता और भी बढ़ जाती है।

केनोपनिषद् के प्रत्येक मन्त्र में चिन्तन के लिए व्यापक स्थान है; इसी से भगवत्पाद शंकराचार्य पदभाष्य के बाद पृथक् से वाक्यभाष्य भी करते हैं। इसके सम्पादन में पूर्व के सभी संस्करणों से कुछ विलक्षणता है। ग्रन्थ के बाएँ भाग में मन्त्र, मन्त्र की हिन्दी, पदभाष्य, पदभाष्य की आनन्द गिरि टीका, शांकर भाष्य की हिन्दी एवं टिप्पणी क्रम से दी गई हैं। ग्रन्थ के दाएँ भाग में वाक्य भाष्य उस पर आनन्द गिरि टीका, भाष्य की हिन्दी एवं टिप्पणी क्रम से दी गई हैं। इस प्रकार पदभाष्य से सम्बन्धित सामग्री के पाठकों को ग्रन्थ के बाईं ओर ही देखना चाहिए और वाक्य भाष्य से सम्बद्ध सामग्री को ग्रन्थ के दाईं ओर के पृष्ठ में अवलोकन करना चाहिए। तुलनात्मक अध्येताओं की सुविधा के लिए आमने सामने पृष्ठ पर पदभाष्य एवं वाक्यभाष्य होने से चिन्तन को एक विशिष्ट दिशा मिलती है। तृतीय खण्ड के उपक्रम वाक्यभाष्य का निबन्ध कुछ अधिक होने पर भी चतुर्थ खण्ड में उपसंहार उसी क्रम से एक साथ करने का प्रयास किया गया है।

ग्रन्थ के संशोधन एवं सम्पादन में अद्वैत मन्दाकिनी में आप्लावन करते रहने का अनवरत लाभ मिलता रहा, यह सब महापुरुषों की कृपा है और अन्त में 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'। श्री कृष्णार्पणमस्तु।

उपनिषत् कुटीर
नई दिल्ली–६३

भगवदीय
डॉ उमेशानन्द शास्त्री

प्रस्तावना

दिशन्तु शम्मे गुरुपादपांसवः

महर्षि वेदव्यास ने सूतसंहिता में लिखा है कि "भेदः साम्नः सहस्रधा"। महाभाष्य में महर्षि पतञ्जलि ने कहा – "सहस्रवर्त्मा सामवेदः" इन उक्तियों के अनुसार सामवेद की एक हजार शाखाएँ मानी गयी हैं। इनमें से सामवेदीय तलवकार ब्राह्मणभाग दोनों में समानरूप से प्रामाण्य माना गया है। इसीलिये आद्य शंकराचार्य भगवत्पाद ने मन्त्र भाग तथा ब्राह्मण भाग के उपनिषदों पर भाष्य लिखा है। यागादि का स्वरूप ब्राह्मण ग्रन्थों में ही विस्पष्टरूप से मिलता है। कुछ विद्वानों ने कर्म में ही वेद का अन्तिम तात्पर्य माना है। कर्म का स्वरूप ब्राह्मण ग्रन्थों में सुस्पष्टरूप से दिखलाया गया है। इसीलिये भगवान् भाष्यकार ने ब्राह्मण भाग की उपनिषदों से अद्वय ब्रह्म को बतलाया है।

केनोपनिषत् के प्रथम मन्त्र के प्रथम पद को प्रतीक मानकर इसका नामकरण किया गया है। इसमें सभी चार खण्ड हैं। प्रारम्भ के दो खण्डों में सर्वाधिष्ठान विशुद्ध ब्रह्म के तात्त्विक स्वरूप का निर्देश लक्षणा से करते हुए परमार्थ ज्ञान को सम्प्रदाय पुरःसर प्राप्त करने का संकेत किया गया है। साथ ही परमार्थज्ञान का ज्ञेय के साथ अभेद बतलाया गया है। तत्पश्चात् अन्तिम दो खण्डों में ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिये यक्षोपाख्यान द्वारा परमेश्वर का सर्वप्रेरकत्व एवं सर्वकर्तृत्व सिद्ध किया गया है। इसकी वर्णनशैली उदात्त और गम्भीर है। अतः इसके तात्पर्य को सम्प्रदाय पुरःसर अध्ययन के बाद ही जिज्ञासु समझ सकता है, फिर भी इसके मन्त्रों में प्रसाद गुण है, जिनके पाठमात्र से हृदय एक अपूर्व आनन्द का अनुभव करने लग जाता है।

अन्य उपनिषदों की अपेक्षा इस केनोपनिषत् का विशेष महत्त्व इससे भी समझा जा सकता है कि भगवान् भाष्यकार ने इस पर दो भाष्य लिखे हैं। एक ही ग्रन्थ पर एक ही सिद्धांत की स्थापना के लिये एक आचार्य द्वारा दो भाष्य लिखे गये हैं, ऐसा अन्यत्र नहीं दीखता। भगवान् शंकराचार्य ने ऐसा क्यों किया? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् शंकराचार्य के वाक्यभाष्य पर टीका प्रारम्भ करते समय स्वामी आनन्दगिरि जी ने दिया है, जिसे पाठक वाक्य भाष्य की आनन्दगिरि टीका में देख सकते हैं। वहाँ पर उन्होंने कहा है कि "केनेषितम्" इत्यादि सामवेदीय शाखान्तर्गत ब्राह्मणोपनिषत् का पदभाष्य लिखकर भी भगवान् भाष्यकार सन्तुष्ट नहीं हुए क्योंकि पदभाष्य में उपनिषत् के अर्थ का शारीरिक युक्तियों से निर्णय नहीं किया गया था। अतः श्रुति के तात्पर्य को बतलाने के लिये युक्ति प्रधान वाक्यों से व्याख्या करने के लिये आचार्य ने वाक्यभाष्य लिखा है। यों तो अन्य उपनिषदों के भाष्य लिखते समय भी भगवान् भाष्यकारों ने श्रुतियों की पदशः व्याख्या करने के बाद युक्तियों से पुनः श्रुति के तात्पर्य को बतलाने के लिये शंका का उत्थापन कर समाधान दिया है फिर भी वहाँ पर वह भाष्य स्वतन्त्र निबन्ध का रूप नहीं ले पाता; किन्तु केनोपनिषत् के ऊपर पदभाष्य से पृथक् वाक्यभाष्य होने के कारण वह स्वतन्त्र निबन्ध बन गया है।

पदभाष्य में मुख्यरूप से मूलमन्त्रों की पदशः व्याख्या की गयी है और वाक्यभाष्य में पदशः

व्याख्यान पर विशेष ध्यान न देकर श्रुति के तात्पर्य को युक्तियों से दिखलाया गया है। केवल पण्डित विष्णुबापट शास्त्री जी ने वाक्यभाष्य का मराठी भाषा में अनुवाद किया है। शेष सभी विद्वानों ने पदभाष्य का ही अनुवाद किया है किन्तु स्वामी आनन्दगिरि जी ने दोनों ही भाष्यों पर भाष्यतात्पर्यावबोधिनी आनन्दगिरि टीका लिखी है। इससे दोनों भाष्यों में समानरूप से प्रामाणिकता सिद्ध होती है। कैलास आश्रम की परम्परा के अनुसार आनन्दगिरि टीका सहित दोनों ही भाष्यों का पठन-पाठन होता है। इसीलिये कैलास आश्रम के मनीषियों ने दोनों ही निबन्धों पर टिप्पणियाँ लिखी हैं।

❋ प्रस्तुत प्रकाशन का वैशिष्ट्य ❋

केनोपनिषत् शांकरभाष्य का सर्वोत्तम प्रकाशन अब तक आनन्द आश्रम पुणे का रहा; क्योंकि वहाँ से अनेक पाठ भेद के साथ आनन्दगिरि टीका सहित शांकरभाष्य का प्रकाशन होता रहा है; किन्तु भाष्य तथा आनन्दगिरि की ग्रन्थियों को सुलझाने वाली टिप्पणियाँ न होने के कारण जिज्ञासु पाठकों को स्थल-स्थल पर कठिनाई होती रही है। साथ ही भाष्य का हिन्दी व्याख्यान न होने के कारण सामान्य पाठकों के लिये उक्त प्रकाशन उपयोगी सिद्ध न हो सका। इसके अतिरिक्त पदभाष्य निबन्ध समाप्ति के अनन्तर वाक्यभाष्य होने के कारण तुलनात्मक अध्ययन करने वाले उत्तम जिज्ञासु पाठकों को उसमें कठिनाई होती रही है। उपर्युक्त सभी बातों को ध्यान में रखकर प्रस्तुत प्रकाशन को सर्वजन उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। आशा है इस प्रकाशन से तुलनात्मक अध्ययन करने वाले उत्तम जिज्ञासु पाठक, ग्रन्थ-ग्रन्थिभेदन की इच्छावाले पाठकगण तथा सामान्य जिज्ञासु भी लाभान्वित होंगे।

केनोपनिषत् के ऊपर लिखी हुई प्राचीनतम कैलास आश्रम की टिप्पणियों की प्रेस कापी करने में तथा हमारे विचारों को लिपिबद्ध करने में वेदान्ताचार्य श्री ब्रह्मचारी रामानन्द जी शास्त्री ने अथक परिश्रम किया है। अनेकों जनहित मांगलिक कार्यों में निरत होते हुए भी डॉ॰ श्री उमेशानन्द शास्त्री जी ने इसके सम्पादन में स्तुत्य प्रयत्न किया है। हमारी सम्पूर्ण भावनाओं को ध्यान में रखकर सम्पादक महोदय ने इसके सम्पादन में अत्यन्त सावधानी बरती है। अतः उक्त महानुभावों की हम मंगलकामना करते हैं। आशा है इस संस्करण से ब्रह्मविद्या के सभी जिज्ञासुओं को अवश्यमेव लाभ होगा। इत्यों शम्।

दि. २७-९-८२

द्वितीयसंस्करण

यह प्रस्तुत द्वितीय संस्करण कतिपय दृष्टि से पाठकों को महत्त्वपूर्ण प्रतीत होगा, इस विश्वास के साथ आधुनिक यन्त्रों में इसका मुद्रापण कराया गया है।

भगवत्पादीयः

आचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्द गिरि

कैलास आश्रम, ऋषिकेश।

विजया दशमी वि. सं. २०५४

दि. २१-१०-९७

शाङ्कराब्द १२०९

विषयानुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

तृतीय खण्ड

चतुर्थ खण्ड

केनोपनिषत्

सटिप्पणटीकाद्वयसंवलितशाङ्करपदभाष्यवाक्यभाष्यसमेता

(सामवेदीयतलवकारोपनिषत्)

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।।
ॐ शान्तिः। शान्तिः। शान्तिः।

आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माऽहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरो-दनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।।

ॐ शान्तिः। शान्तिः। शान्तिः।

भाव :– वह परमात्मा हम (आचार्य और शिष्य एवं वक्ता और श्रोता) दोनों की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन करें। हम दोनों साथ-साथ विद्याजन्य सामर्थ्य का सम्पादन करें। हम दोनों का अधीत (ज्ञान) तेजस्वी हो और हम (कभी भी परस्पर) द्वेष न करें। त्रिविध ताप की शान्ति हो।

मेरे अंग पुष्ट होवें, मेरे वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ पुष्ट, (ब्रह्म बोध के योग्य) होवें। वह सब (दृश्यमान् जगत्) उपनिषद्वेद्य ब्रह्म ही है। मैं ब्रह्म का निराकरण न करूँ और ब्रह्म मेरा निराकरण न करे (अर्थात् मैं ब्रह्म को सदा आत्मभावेन साक्षात् करूँ, उससे कभी भी विमुख न होऊँ और इसके लिए सर्वान्तर्यामी परमात्मा मुझे बल दे, वह मेरा त्याग न करे)। इस प्रकार हमारा परस्पर अनिराकरण हो, अनिराकरण हो। उपनिषदों में जो धर्म हैं, वे आत्मबोध में लगे हुए मुझ साधक में होवें, वे सब मुझ में होवें। त्रिविध ताप की शान्ति होवे।।

अथ श्रीमच्छंकरभगवत्पादविरचितं पदभाष्यम्।

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः।

केनेषितमित्याद्योपनिषत्परब्रह्मविषया वक्तव्येति नवमस्याध्यायास्याऽऽरम्भः। प्रागेतस्मात्कर्माण्यशेषतः परिसमापितानि समस्तकर्माश्रयभूतस्य च प्राणस्योपासनान्युक्तानि कर्माङ्गसामविषयाणि च। अनन्तरं च गायत्रसामविषयं दर्शनं वंशान्तमुक्तं कार्यं सर्वमेतद्यथोक्तं कर्म च ज्ञानं च सम्यगनुष्ठितं निष्कामस्य मुमुक्षोः सत्त्वशुद्ध्यर्थं भवति। सकामस्य तु ज्ञानरहितस्य केवलानि श्रौतानि स्मार्तानि च कर्माणि दक्षिणमार्गप्रतिपत्तये पुनरावृत्तये च भवन्ति। स्वाभाविक्या त्वशास्त्रीयया प्रवृत्त्या पश्वादि-

---

अथाऽऽनन्दगिरिकृता टीका।

[1]यच्छ्रोत्रादेरधिष्ठानं चक्षुर्वागाद्यगोचरम्।
[2]स्वतोऽध्यक्षं परब्रह्म नित्यमुक्तं भवामि तत्।।१।।

केनेषितमित्यादिकां तलवकारशाखोपनिषदं व्याचिख्यासुर्भगवान्भाष्यकारोऽहंप्रत्ययगोचरस्याऽऽत्मनः संसारित्वादसंसारिब्रह्मभावस्योपनिषत्प्रतिपाद्यस्यासंभवान्निर्विषयत्वादव्याख्येयत्वमित्याशङ्क्याहंकारसाक्षिणः संसारित्वग्राहकप्रमाणाविषयत्वाद्ब्रह्मत्वप्रतिपादने विरोधासंभवात्सविषयात्वाद्व्याख्येयत्वं प्रतिजानीते—केनेषितमित्याद्येति। **कस्तर्हि नवमस्याध्यायस्याष्टाध्याय्या सह नियतपूर्वोत्तरभावानुपपत्तिलभ्यः संबन्ध इत्याशङ्क्य हेतुहेतुमद्भावलक्षणसंबन्धं दर्शयितुं वृत्तमनुवदति** —प्रागेतस्मादित्यादिना। **कर्माङ्गसाम पाञ्चभक्तिकं साप्तभक्तिकं च तद्विषयाण्युपासनानि पृथिव्यादिदृष्ट्योक्तानि। प्राणदृष्ट्या गायत्रसामोपासनं च। शिष्याचार्यसंतानाविच्छेदो वंशस्तदवसानेन ग्रन्थेन कार्यरूपमेव वस्तूक्तं चेत्तर्हि प्राणाद्युपासनसहितस्य कर्मणः संसारफलत्वाद्ब्रह्मज्ञानानुपयोगात्कथं हेतुहेतुमद्भावःसंबन्धोऽभिधित्सित इत्याशङ्क्य नित्यकर्मणां तावज्ज्ञानोपयोगित्वं कथयति** — सर्वमेतदिति। **काम्यानां प्रतिषिद्धानां च फलं तद्दोषदर्शनेन वैराग्यार्थं कथयति** — सकामस्य त्विति।

प्रथम खण्ड प्रस्तावना पद भाष्य

परब्रह्म विषयिणी "केनेषितम्" इत्यादि उपनिषत् बतलानी है। इसीलिये अब सामवेदीय तलवकार शाखा का नवम अध्याय प्रारम्भ किया जाता है। इससे पूर्व सम्पूर्ण कर्मों का प्रतिपादन भली प्रकार समाप्त किया जा चुका है (इतना ही नहीं बल्कि) सम्पूर्ण कर्मों के आश्रय स्वरूप प्राण की उपासना एवं कर्माङ्ग सामोपासना का वर्णन भी हो चुका है। तत्पश्चात् गायत्र साम विषयक दर्शन तथा शिष्य परम्परारूप के वर्णन में परिसमाप्त कार्य भी बतला दिया गया। यह भी पहले कहा जा चुका है कि सम्पूर्ण कर्म एवं उपासना अच्छी प्रकार से अनुष्ठान किये जाने पर निष्काम मोक्षाभिलाषी पुरुष के चित्त को शुद्ध कर डालता है एवं उपासना रहित सकाम कर्मी साधक के द्वारा किये गये श्रौत और स्मार्त कर्म केवल दक्षिण मार्ग की प्राप्ति और वहाँ से पुनरावृत्ति का कारण होते हैं। इनके अतिरिक्त जिनका शास्त्र में विधान नहीं ऐसी स्वाभाविक प्रवृत्ति से पशु से लेकर स्थावर

---

१. प्रकृतोपनिषत्प्रतिपाद्यमेव ब्रह्मात्मैक्यमनुसंदधानो निबध्नाति - यदित्यादिना। २. स्वतोऽध्यक्षं स्वयंप्रकाशम्।

अथ शांकरवाक्यभाष्यम्।

समाप्तं कर्मात्मभूतप्राणविषयं विज्ञानं कर्म चानेकप्रकारम्। ययोर्विकल्पसमुच्च्यानुष्ठानाद्दक्षिणोत्तराभ्यां सृतिभ्यामावृत्त्यनावृत्ती भवतः । अत ऊर्ध्वं फलनिरपेक्षज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानात्कृतात्मसंस्कारस्योच्छिन्नात्मज्ञानप्रतिबन्धकस्य द्वैतविषयदोषदर्शिनो निर्ज्ञाताशेषबाह्यविषयत्वात्संसारबीजमज्ञानमुच्चिच्छित्सतः प्रत्यगात्म-

---

अथाऽऽनन्दगिरिकृता टीका।

[१]प्रयत्नाद्यन्तरेणैव मनआदेः प्रवर्तकम्।
[२]विदिताविदितान्यत्वसिद्धं ब्रह्माहमद्वयम्।।१।।

केनेषितमित्यादिकां सामवेद[३]शाखाभेदब्राह्मणोपनिषदं पदशो व्याख्यायापि न तुतोष भगवान्भाष्यकारः [४]शारीरकैर्न्यायै[५]रनिर्णीतार्थत्वादिति न्यायप्रधानैः श्रुत्यर्थसंग्राहकै[६]र्वाक्यैर्व्याचिख्यासुः पूर्वकाण्डेन संबन्धमभिधित्सुः पूर्वकाण्डार्थं संक्षेपतो दर्शयति—समाप्तमिति। कर्मणामात्मभूत आश्रयभूतः प्राणस्तस्य शुद्धत्वादिगुणविशिष्टस्योपासनं पूर्वत्रातिवृत्तं कर्म च नित्यनैमित्तिकाद्यनेकप्रकारमविदुषामतिक्रान्तमित्यर्थः। ताभ्यां ज्ञानकर्मभ्यामेव मोक्षसिद्धेर्न मुमुक्षोः पृथगुपनिषदारभ्येतिशङ्कानिरासाय ज्ञानकर्मणी विशिनष्टि — ययोरिति। ज्ञानमनादृत्य कर्मण एव निरपेक्षसाधनतयाऽनुष्ठानं विकल्पस्ततश्चन्द्रमण्डलं प्राप्याऽऽवर्तते केवलस्य ज्ञानस्य कर्मसमुच्चितस्य वाऽनुष्ठानाद्ब्रह्मलोकं प्राप्य स्थित एव तस्मान्नाऽऽवर्तत इत्यापेक्षिक्यनावृत्तिर्भवति न पुनरात्यन्तिकी। कृतकत्वपरिच्छेदाभ्यामनित्यत्वानुमानात्। अतः संसारफलकमेव कर्मकाण्डमित्यर्थः। अस्त्वयं कर्मकाण्डार्थस्तथाऽपि नियतपूर्वोत्तरभावानुपपत्तिलभ्यः कथं हेतुहेतुमद्भावः संबन्धः कर्मकाण्डेन ज्ञानकाण्डस्येत्याकाङ्क्षायामाह-अत ऊर्ध्वमिति। [७]कामिनाऽनुष्ठितं कर्म यद्यपि संसाराय भवति तदेव तु निष्कामेना [णा] नुष्ठितं सत्त्वशुद्धये स्यात्। शुद्धसत्त्वस्य चा[८]नात्मज्ञानाभिमुख्यं न जायते। अनात्मा-

---

प्रस्तावना वाक्य भाष्य

इससे पूर्व कर्मों के आश्रयभूत प्राण की उपासना तथा अनेक प्रकार के कर्म का निरूपण समाप्त हो चुका है। जिन दोनों में से विकल्प (केवल एक) और समुच्चय (एक पुरुष द्वारा एक साथ दोनों) के अनुष्ठान से दक्षिणायन मार्ग और उत्तरायण मार्ग द्वारा पुनरावृत्ति और क्रम-मुक्तिरूप अपुनरावृत्ति होती है। इसके पश्चात् देव उपासना और कर्मों के निष्कामभाव से समुच्चय अनुष्ठान करके जिसने अपना अन्तःकरण शुद्ध कर लिया है अतएव आत्मज्ञान का प्रतिबन्धक रूप दोष जिसका नष्ट हो चुका है, जिसे अब द्वैत में दोष ही दोष दीखता है एवं सम्पूर्ण विषयों के तत्त्व को जान लेन

---

१. प्रयत्नाद्यन्तरेणैवेति — सांनिध्यातिरिक्तां वागादिनां प्रेरणां विनैवेत्यर्थः। स्वसंनिधानमात्रेणैवेति यावत्। २. विदितेत्यादि — विदिताविदिताभ्यामन्यत्वेन सिद्धं निश्चितमित्यर्थः। ३. शाखाभेदेति — तलवकारशाखेत्यर्थः। ४. शारीरकैर्न्यायैरिति— शारीरकशास्त्रीयैर्युक्तिप्रधानैः सूत्रैस्तदीयैरधिकरणैरिति वार्थः। ५. अनिर्णीतार्थत्वादिति — अस्या उपनिषद इति शेषः। ६. वाक्यैरिति — संग्रहविवरणात्मकैः पदकम्बकैरित्यर्थः। ७. संसारफलकमेव कर्मकाण्डमित्यनुपदमेवावधार्य सम्प्रति तस्यैव परम्परया मोक्षफलकत्वं वदतोव्याघातः स्यादित्याशङ्कामपनुदन्नाह—कामिनेति। ८. उच्छिन्नेत्यादिवाक्यं व्याकुर्वन्नाह — अनात्मज्ञानेति। देहशब्दादयोऽनात्मानः तज्ज्ञानाभिमुख्यं तद्भोगप्रावण्यं तच्चात्मज्ञानप्रतिबन्धकं, तच्च नावतिष्ठते शुद्धधिय इत्यर्थः।

स्थावरान्ताऽधोगतिः स्यात्। "अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन, तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति। जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्।" इति श्रुतेः। "प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुः" इति च मन्त्रवर्णाद्विशुद्ध-सत्त्वस्य तु निष्कामस्यैव बाह्यादनित्यात्साध्यसाधनसंबन्धादिह कृतात्पूर्वकृताद्वा संस्कारविशेषोद्भवाद्विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषया जिज्ञासा प्रवर्तते। [१]तदेतद्वस्तु प्रश्नप्रति-वचनलक्षणया श्रुत्या प्रदर्श्यते केनेषितमित्याद्यया। काठके चोक्तम्— "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त-चक्षुरमृतत्वमिच्छन्" इत्यादि। "परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।" "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" इत्याद्या-थर्वणे च। एवं हि विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषयं विज्ञानं श्रोतुं मन्तुं विज्ञातुं च सामर्थ्य-

---

एतयोः पथोर्ज्ञानकर्मणोर्मध्ये केनापि मार्गेण ये न प्रवृत्तास्ते प्रतिषिद्धानुष्ठायिन इत्यर्थः। जायस्व म्रियस्वेति। पुनः पुनर्जायन्ते म्रियन्ते चेत्यर्थः। तिस्रः प्रजाः स्वेदजाण्डजोद्भिज्जलक्षणाः। पितृयाणदेव-यानलक्षणमार्गद्वयगमनमतीत्य कष्टामेव गतिमीयुः प्राप्ता इत्यर्थः। एवं कर्मफलमुक्त्वा ततो विरक्तस्य विशुद्धसत्त्वस्य ब्रह्मज्ञानेऽधिकार इति दर्शयन्हेतुहेतुमद्भावमाह—विशुद्धसत्त्वस्य त्विति। साध्यसाधन-संबन्धाद्विरक्तस्येति संबन्धः। तत्र निमित्तस्यादृष्टस्यानियतत्वमाह—इह कृतादिति। कर्मफलाद्विरक्तस्य ब्रह्मजिज्ञासा भवतीत्यत्रान्यसंवादमाह— काठके चेति। आवृत्तचक्षुरिति। साध्यसाधनभावादुपरत-करणग्रामश्चक्षुर्ग्रहणस्योपलक्षणार्थत्वात्। अन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वं चाऽऽह—एवं हीति। नान्यथेति।

योनि पर्यन्त अधोगति होती है। इसे "ये स्वच्छन्द प्रवृत्ति वाले जीव उत्तरायण और दक्षिणायन इन दोनों मार्गों में से किसी भी मार्ग से नहीं जाते, प्रत्युत सदा आवर्तनशील क्षुद्र जन्तु ही होते हैं; उनके लिये तो जन्मो और मरो, ऐसा तीसरा ही मार्ग है" इस श्रुति से और "तीन प्रसिद्ध प्रजाओं ने धर्म का परित्याग किया" इस मन्त्रवर्ण से भी (उक्त बात सिद्ध होती है।)

इस जन्म अथवा पूर्व जन्म में किये गये कर्मों के संस्कार विशेष के फलस्वरूप विशुद्ध अन्तःकरण निष्काम पुरुष को साध्य एवं साधन से संबन्ध रखने वाले बाह्य अनित्य पदार्थों से वैराग्य हो जाता है। ऐसे विशुद्धसत्त्व, निष्काम एवं विरक्त पुरुष को ही प्रत्यगात्मविषयक जिज्ञासा होती है। यही बात **"केनेषितम्"** इत्यादि प्रश्नोत्तररूपा श्रुति से सुस्पष्ट दिखलायी जाती है। "स्वयंभू परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाकर हिंसित कर डाला, तब से यह जीव बाहर की ओर ही देखता है, अन्तरात्मा को नहीं देखता। इनमें से किसी-किसी बुद्धिमान् पुरुष ने ही अमरत्व की आकांक्षा से अपनी इन्द्रियों की बहिर्मुखता को रोककर प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार किया है अर्थात् आज भी करते हैं" इत्यादि कठोपनिषत् में कहा है। अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषत् में भी कहा है "ब्रह्मजिज्ञासु ब्राह्मण पुरुष कर्म द्वारा सम्पादित लोकों की परीक्षा कर वैराग्य को प्राप्त होता है क्योंकि क्रिया के द्वारा नित्य मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता" "अतः उसके विशेष ज्ञान की प्राप्ति के लिये वह मुमुक्षु हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के पास ही जावे" इत्यादि। केवल ऐसे विरक्त पुरुष को ही प्रत्यगात्म-

---

१. तदेतद्वस्तु— विरक्तस्यैव तत्त्वजिज्ञासाप्रवर्तनात्मकं, जिज्ञासामुखेन प्रत्यगात्मरूपं वा वस्त्वित्यर्थः।

विषयजिज्ञासोः केनेषितमित्यात्मस्वरूपतत्त्वविज्ञानायायमध्याय आरभ्यते। तेन च मृत्युपदमज्ञानमुच्छेत्तव्यं तत्तन्त्रो हि संसारो यतः। अनधिगतत्वादात्मनो युक्ता तदधिगमाय तद्विषया जिज्ञासा। कर्मविषये चानुक्तिः तद्विरोधित्वात्। अस्य विजिज्ञासितव्यस्याऽऽत्मतत्त्वस्य कर्मविषयेऽवचनम्। कस्मादिति चेदात्मनो हि यथावद्विज्ञानं कर्मणा विरुध्यते। निरतिशयब्रह्मस्वरूपो ह्यात्मा विजिज्ञापयिषितः। "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदम्" इत्यादिश्रुतेः। न हि स्वाराज्येऽभिषिक्तो ब्रह्मत्वं गमितः कंचन [1]नमितुमिच्छत्यतो ब्रह्मास्मीति संबुद्धो न कर्म कारयितुं शक्यते। न ह्यात्मानमवाप्तार्थं

भिनिवेशस्यानर्थसाधनतयाऽवधारितत्वादात्मविषयैव जिज्ञासा जायते। जिज्ञासोश्चाऽऽत्मनिरूपणायोपनिषदारभ्यत इति हेतुहेतुमद्भाव इत्यर्थः। आत्मस्वरूपब्रह्मतत्त्वविज्ञानायायमध्याय आरभ्यते चेत्किं तेन विज्ञानेन फलं स्यादित्यत आह—तेन चेति। यतोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामज्ञानतन्त्रा संसारप्रसिद्धिस्तदुच्छेदेनाऽऽत्यन्तिकसंसारोच्छेदः फलमित्यर्थः। मृत्युकारणमात्माज्ञानमुच्छेतुमिच्छत आत्मजिज्ञासा जायत इत्युक्तं तदसत्। अहंप्रत्ययेनैवाऽऽत्मनोऽधिगतत्वादधिगते जिज्ञासानुपपत्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—अनधिगतत्वादिति। अहंप्रत्ययस्य मनुष्यत्वादिसमानाधिकृतस्य व्यतिरिक्तात्मप्रमापकत्वासिद्धेर्वादिनां विप्रतिपत्तिदर्शनाच्च युक्ता जिज्ञासेत्यर्थः। तथाऽपि कर्मकाण्डे देहव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनो विध्यपेक्षितत्वेन निरूपितत्वात्पुनर्जिज्ञासानुपपत्तौ कथं जिज्ञासोरुपनिषदारभ्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—कर्मविषय इति। अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः परलोकसंबन्ध्यात्मेत्येतावदेव स्वर्गकामादिचोदनाभिरपेक्षितं न तु ब्रह्मात्मतत्त्वं तस्य कर्मविरुद्धत्वात्ततस्तज्जिज्ञासा युक्तेत्यर्थः। संग्रहवाक्यं विवृणोति—अस्येत्यादिना। निरतिशयब्रह्मस्वरूप आत्मोपनिषदि विजिज्ञापयिषितोऽस्तु कथमेतावता कर्मणा विरोध इत्याकाङ्क्षायामाह—न हीति। देवताराधनरूपो हि यागो ब्रह्मविच्च सर्वदेवतात्मभूतः पशुभावाच्च व्यावृत्तः कथं देवतां प्रणमेदित्यर्थः। ब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानं कर्मविरुद्धं चेत्तर्हि श्रुत्या ब्रह्मात्मत्वो-

---

के कारण जो अब संसार के बीजरूप अज्ञान को मिटाना चाहता है; उस प्रत्यगात्मा के जिज्ञासु को आत्मा के वास्तविक स्वरूप का अपरोक्ष बोध कराने के लिए (सामवेदीय तलवकार शाखा का) **"केनेषितम्"** इत्यादि मन्त्र से यह नवम अध्याय प्रारम्भ किया जाता है। एकमात्र आत्मतत्त्व ज्ञान से ही मृत्युरूप संसार के कारण अज्ञान का नाश करना चाहिए क्योंकि संसार अज्ञानमूलक है। इसी अज्ञान के कारण आत्मा का वास्तविक स्वरूप अज्ञात है। अतः आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिये आत्मविषयक जिज्ञासा उचित ही है। इससे पूर्वकाण्ड प्रसंग में आत्मतत्त्व का निरूपण इसलिये नहीं किया गया, क्योंकि यह उसका विरोधी है। अतएव कर्मकाण्ड में विशेषरूप से जानने योग्य इस आत्मतत्त्व का विवेचन नहीं किया गया था। क्यों? ऐसा यदि पूछो तो इसका यही उत्तर है कि आत्मा का यथार्थ ज्ञान कर्म का विरोधी है, क्योंकि जिसके स्वरूप का ज्ञान कराना अभीष्ट है, वह आत्मा तो निरतिशय ब्रह्मस्वरूप ही है। ऐसा ही "तू उसी को ब्रह्म जान, जिस इस परिच्छिन्न वस्तु

---

१. नमितुमिति— (नन्तेवाचरितुमित्यर्थः) नमतीति नम इति पचाद्यजन्तादाचारक्विबन्तात्तुमुनीडनर्गलः। न च शुद्धेनैव निर्वाहे क्विबन्तधातूपादानमनर्थकमिति वाच्यं स्तुत्यादेर्नन्तुराचारान्तरस्यापि संजिघृक्षितत्वाच्छुद्धेन च तदलाभादिति ध्येयम्। एतेन इडागमश्चिन्त्य इति ब्रुवन्नचिन्तानिपुण इति विशदम्।

मुपपद्यते नान्यथा। एतस्माच्च प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानात्संसारबीजमज्ञानं कामकर्मप्रवृत्तिकारणमशेषतो निवर्तते। "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इति मन्त्रवर्णात्। "तरति शोकमात्मवित्" इति,

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे"

इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। कर्मसहितादपि ज्ञानादेतत्सिध्यतीति चेन्न। वाजसनेयके तस्यान्यकारणत्ववचनात्। "जाया मे स्यात्" इति प्रस्तुत्य "पुत्रेणायं लोको जय्यो नान्येन कर्मणा। कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः" इत्यात्मनोऽन्यस्य लोकत्रयस्य

अविरक्तस्य बहिर्विषयाक्षिप्तचेतस आत्मजिज्ञासैवानुपपन्ना कथंचिज्जाताऽपि न फलावसाना स्याच्छूद्रयागादिवदित्यर्थः। यद्यप्येवमुपनिषदः कर्मकाण्डसंबन्धोऽस्ति तथाऽप्युपनिषज्जन्यज्ञानस्य निष्प्रयोजनत्वान्नोपनिषदो व्याख्यारम्भः संभवतीत्याशङ्क्याऽऽह—एतस्माच्चेति। समुच्चयवादिनोऽभिप्रायं शङ्कते—कर्मसहितादपीति। [१]एकाध्ययनविधिपरिगृहीतत्वात्कर्मज्ञानकाण्डयोरेकं फलं वाच्यं ततः कर्मसमुच्चिताज्ज्ञानात्सनिदानसंसारनिवृत्तिलक्षणं फलं सिध्यतीति न कर्मसु विरक्तस्योपनिषदारम्भ इत्यर्थः। अध्ययनविधिपरिग्रहमात्रेण कर्मकाण्डस्य न मोक्षफलत्वं कल्पयितुं शक्यं [२]फलान्तरावगमविरोधादित्याह—न वाजसनेयक इति। किंच यदि श्रुतेः कर्मसमुच्चितज्ञानं विधित्सितं स्यात्तदा पारिव्राज्यं

विषयक विज्ञान और उसके साधन श्रवण, मनन एवं साक्षात्कार का सामर्थ्य हो सकता है, दूसरे प्रकार या दूसरे पुरुष को नहीं हो सकता। इस प्रत्यगात्म को ब्रह्मरूप से साक्षात् करने पर ही कामना और कर्म की प्रवृत्ति का कारण एवं संसार का बीज अज्ञान सर्वथा नष्ट होता है। यह बात "उस अवस्था में एकत्व देखने वाले अभेददर्शी पुरुष को क्या मोह और क्या शोक हो सकता है" इत्यादि मन्त्रवर्ण तथा "आत्मज्ञानी शोक को पार कर जाता है" "उस परावर को साक्षात्कार हो जाने पर उस तत्त्ववेत्ता की अध्यासरूपा हृदय-ग्रन्थि छिन्न-भिन्न हो जाती है, सभी संशय नष्ट हो जाते हैं और (प्रारब्ध से अतिरिक्त) समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं" इत्यादि श्रुतियों से भी सिद्ध होती है।

पूर्वपक्षी :— यह फल कर्म सहित उपासना से भी सिद्ध हो सकता है, ऐसा यदि कहो तो—

सिद्धान्ती :— ठीक नहीं क्योंकि बृहदारण्यक श्रुति ने कर्म सहित उपासना को अन्य फल का हेतु कहा है। "मुझे स्त्री प्राप्त हो" ऐसा प्रकरण प्रारम्भ कर बृहदारण्यक श्रुति में "यह लोक पुत्र से प्राप्त किया जा सकता है और किसी कर्म से नहीं, कर्म से पितृलोक मिलता है एवं उपासना से देवलोक प्राप्त होता है" इस प्रकार आत्मा से भिन्न लोकत्रय का ही कारण उसे कहा गया है। इसके

---

१. एकाध्ययनेति—अत्रायं प्रयोगः। कर्मज्ञानकाण्डे एक (मोक्षात्मक) फलके एकविधिविहिताध्ययनकत्वात् व्यतिरेकेण ज्योतिश्चिकित्साशास्त्रवदिति। २. फलान्तरावगमेति—दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकाम इत्यादि प्रमाणेन कर्मकाण्डस्य मोक्षफलकत्वाभावनिश्चयादांशिकबाधपीडितमनुमानमिति भावः।

ब्रह्म मन्यमानः प्रवृत्तिं प्रयोजनवतीं पश्यति। न च निष्प्रयोजना प्रवृत्तिरतो विरुध्यत एव कर्मणा ज्ञानम्। अतः कर्मविषयेऽनुक्ति [१]विज्ञानविशेषविषयैव जिज्ञासा। कर्मानारम्भ इति चेन्न। निष्कामस्य संस्कारार्थत्वात्। [२]यदि ह्यात्मविज्ञानेनाऽऽत्मा[३]विद्याविषयत्वा-त्परितित्याजयिषितं कर्म ततः "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्" इत्यनारम्भ एव कर्मणः श्रेयानल्पफलत्वादायासबहुलत्वात्तत्त्वज्ञानादेव च श्रेयःप्राप्तेरिति चेत्[४]सत्यम्। एतदविद्याविषयं कर्माल्पफलत्वादिदोषवद्बन्धरूपं च सकामस्य। "[५]कामान्यः कामयते" "[६]इति नु कामयमानः" इत्यादिश्रुतिभ्यः। न निष्कामस्य। [७]तस्य तु [८]संस्कारार्थान्येव

पदेशेनार्थात्कर्म तित्याजयिषितमित्यननुष्ठानमेव प्रसज्येतातो [९] जिज्ञासाहेतुत्वेनाभिमतः कर्मकाण्डेन संबन्धोऽसंगत इत्याशङ्कामुद्भाव्याभिहितं संबन्धं समर्थयति—कर्मानारम्भ इत्यादिसूत्रेण।

की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है" इस श्रुति से भी सिद्ध होता है। स्वाराज्यपद पर अभिषिक्त हुआ ब्रह्मभाव को प्राप्त करने वाला ब्रह्मवेत्ता पुरुष किसी के सामने झुकना नहीं चाहता है। अतः 'मैं ब्रह्म हूँ, ऐसे जानने वाले पुरुष से कर्म नहीं कराया जा सकता, (निष्प्रयोजन कोई भी प्रवृत्ति होती नहीं) अपने आत्मा को आप्तकाम ब्रह्म मानने वाले पुरुष में कोई भी प्रवृत्ति प्रयोजनवती नहीं देखी जाती है। अतः कर्म के साथ ज्ञान का विरोध सुस्पष्ट है। इसीलिये कर्मकाण्ड प्रसंग में आत्मज्ञान का उल्लेख नहीं हुआ है क्योंकि किसी विज्ञान विशेष के सम्बन्ध में ही जिज्ञासा हुआ करती है। यदि कहो कि तब तो कर्म का आरम्भ करना ठीक नहीं? तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि निष्काम कर्म, साधक पुरुष के संस्कार का कारण है। यदि आत्मा के अज्ञान का विषय होने से आत्मज्ञान द्वारा कर्म का परित्याग करना ही इष्ट है, तो कीचड़ को धोने की अपेक्षा उसे दूर से स्पर्श न करना ही श्रेष्ठ है। इस लोक न्याय के अनुार कर्म का आरम्भ न करना ही श्रेष्ठ माना जाएगा क्योंकि कर्म का फल अल्प है और इसमें परिश्रम अधिक है, साथ ही कल्याणरूप मोक्ष तो तत्त्वज्ञान से ही होता है किसी हद तक यह कहना ठीक ही है परन्तु "जो भोगों की कामना करता है" तथा 'जिस प्रकार जो कामना करने वाला है" इत्यादि श्रुतियों से यह अविद्याविषयक कर्म सकाम पुरुषों

---

१. विज्ञानविशेषविषयेति—आत्मनो ब्रह्मत्वेन ज्ञानं विज्ञानविशेषस्तद्विषया तद्विषयविषयेत्यर्थः। जिज्ञासापदमेव वा लाक्षणिकमीप्सायामिति ध्येयम्। २. सूत्रं व्याकरोति—यदीति। ३. अविद्याविषयत्वादिति—तत्कार्यत्वादिति यावत्। ४. सूत्रसमाधानांशं विवरीतुमाह—सत्यमिति। ५. कामान्यः कामयत इति—मन्यमानः सकामभिर्जायते तत्र तत्रेति श्रुतिशेषः। मु. उ. ३।२।२। ६. इति नु कामयमान इति—इति एवम् तदेव सक्तः सह कर्मणैतीत्यादिनोक्तरीत्या। नु खलु कामयमानो जनः संसरतीत्यर्थः। तथाहि तत्रोक्तम्—तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य। प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे। इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो, योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीति बृ. उ. ४।४।६। ७. तस्य तु संस्कारार्थान्येव कर्माणि भवन्तीति—तथा चाज्ञस्यापि निष्कामस्य मुमुक्षोरात्मसंस्कारमिच्छोरनुष्ठातुः संभवान्नाननुष्ठानप्रसङ्ग इति युक्त एवाभिहितो हेतुहेतुमद्भावः संबन्ध इति भावः। ८. संस्कारार्थानीति—तथा चाज्ञं निष्कामं प्रत्यपि कर्मणां साफल्यान्न पङ्कप्रक्षालनन्यायावकाश इति भावः। विज्ञं प्रत्येव तु तत्तित्याजयिषेति रहस्यम्। ९. जिज्ञासाहेतुत्वेनेति— कर्मकाण्डस्य जिज्ञासाहेतुत्वोपगमेन हेतुहेतुमद्भावाख्यः कर्मकाण्डेन साकमभिमतः संबन्धो न संगच्छेतेत्यर्थः।

कारणत्वमुक्तं वाजसनेयके। तत्रैव च पारिव्राज्यविधाने हेतुरुक्तः— "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः" इति। तत्रायं हेत्वर्थः—प्रजाकर्मतत्संयुक्त-विद्याभिर्मनुष्यपितृदेवलोकत्रयसाधनैरनात्मलोकप्रतिपत्तिकारणैः किं करिष्यामो न चास्माकं लोकत्रयमनित्यं साधनसाध्यमिष्टं येषामस्माकं स्वाभाविकोऽजोऽजरोऽमृतोऽ-भयो न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्नित्यश्च लोक इष्टः। स च नित्यत्वान्नाविद्यानिवृत्ति-व्यतिरेकेणान्यसाधननिष्पाद्यस्तस्मात्प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानपूर्वकः सर्वैषणासंन्यास एव कर्तव्य इति। कर्मसहभावित्वविरोधाच्च प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानस्य। न ह्युपात्तकारक-फलभेदविज्ञानेन कर्मणा प्रत्यस्तमितसर्वभेददर्शनस्य प्रत्यगात्मब्रह्मविषयस्य सहभावित्व-

---

नोपदिश्येत श्रुत्या हेत्वभिधानेन ततो न समुच्चयः श्रुत्यर्थ इत्याह—तत्रैव चेति। प्रजाशब्दस्योप-लक्षणार्थत्वमादाय हेत्वर्थमाह—तत्रायमिति। किं करिष्यामो न किमप्यात्मकामत्वादेवेति शेषः। तत्फलं भुक्त्वा क्रमेण मोक्षसंभवात्किमिति प्रजादिष्वनादर इत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति। इष्टोऽप्यय-मात्मलोकः [१]कर्मणा विना न लभ्यते फलत्वान्मोक्षस्यान्यथास्वभावमुक्तत्वे बन्धमोक्षावस्थयोरविशेषा-पातादित्याशङ्क्याऽऽह—स चेति। [२]कर्ममोक्षे [३]कार्यस्यो[४]त्पाद्यादेरसंभवात्सम्यग्ज्ञानाद[५]विद्यानिवृत्त्या फलप्रसिद्ध्युपपत्तेर्न[६] कर्मकार्यो मोक्ष इत्यर्थः। ब्रह्मज्ञानस्यानुभवावसानतासिद्धये परोक्षनिश्चयपूर्वकः [७]संन्यासः कर्तव्यः। सिद्धे चानुभवावसाने ब्रह्मात्मज्ञाने [८]स्वभावप्राप्तः संन्यास इति द्रष्टव्यम्। इतश्च न कर्मब्रह्मात्मतानिश्चयसमुच्चयः शास्त्रार्थ इत्याह—कर्मसहभावित्वेति। ननु कर्मवद्ब्रह्मज्ञानस्य [९]विधितोऽनुष्ठेयत्वाद्विधेश्च विनियोज्यादिभेदापेक्षितत्वात्कथं सर्वभेददर्शनप्रत्यस्तमय उच्यते ब्रह्मज्ञाने

अतिरिक्त वहीं पर संन्यास ग्रहण में यह कारण बतलाया गया है। "हम प्रजा से क्या करेंगे, जबकि हमें यह आत्मलोक सिद्ध करना ही अभीष्ट है" इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक इन तीनों अनात्मलोकों की प्राप्ति के साधन प्रजा, कर्म और कर्म सहित उपासना से हम क्या करेंगे क्योंकि साधन-साध्य स्वरूप एवं अनित्य ये तीनों लोक हमें इष्ट नहीं हैं, जिन हम लोगों को स्वाभाविक अजन्मा, अजर, अमर, अभय और जो कर्म से बढ़ता घटता नहीं है ऐसे नित्यलोक ही अभीष्ट हैं, वह आत्मलोक नित्य होने से (सदा प्राप्त है) अविद्या निवृत्ति के अतिरिक्त दूसरे किसी भी साधन से निष्पाद्य नहीं है। इसलिये आत्मा और ब्रह्म के एकत्वज्ञानपूर्वक सभी प्रकार की एषणाओं का परित्याग कर देना ही हमारा कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त आत्मा और ब्रह्म के एकत्व

---

१. कर्मणा विना नेत्यादि—मोक्षः कर्मजन्यः फलत्वात् स्वर्गवदिति भावः। अत्रानुकूलतर्कमाह—अन्यथेत्यादिना। २. कर्ममोक्षे कार्यस्येत्यत्र मोक्षे कर्मकार्यस्येति शोधितः पाठः। ३. कर्ममोक्षे कर्मणा साध्ये मोक्षेऽभ्युपेयमाने। ४. कार्य-स्योत्पाद्यादेरसंभवादिति—नित्याप्तनिर्विकारस्वतःशुद्धात्मरूपमोक्षस्य उत्पाद्याप्यविकार्यसंस्कार्यत्वासंभवादित्यर्थः। ५. अवि-द्यानिवृत्त्येति—अविद्यानिवृत्त्युपलक्षितात्मरूपे मोक्षे फलत्वव्यवहारस्तूपलक्षणस्य साध्यत्वादेवोपपद्यत इति भावः। ६. न कर्मकार्यो मोक्ष इति—मोक्षो न कर्मजन्यः उत्पाद्याद्यन्यतमत्वाभावादात्मवत्। व्यतिरेकेण स्वर्गवद्वा। तथा च पूर्वानुमानं सत्प्रतिपक्षितमिति भावः। श्रुत्यादेश्च सिद्धान्तानुमान एवानुकूल्यमिति ध्येयम्। ७. संन्यासः कर्मत्याग इति यावत्। ८. स्वभावप्राप्तः संन्यास इति—अविधेयो विद्वत्संन्यास इति यावत्। ९. विधितोऽनुष्ठेयत्वादिति—वैदिकत्वाविशेषादिति भावः।

कर्माणि भवन्ति तन्निर्वर्तकाश्रयप्राणविज्ञानसहितानि। "देवयाजी श्रेयानात्मयाजी वा" इत्युपक्रम्याऽऽत्मयाजी तु करोति" "इदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियते" इति संस्कारार्थमेव कर्माणीति वाजसनेयके।

"महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।"

"यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्"

इत्यादिस्मृतेश्च। प्राणादिविज्ञानं च केवलं कर्मसमुच्चितं वा सकामस्य प्राणात्मप्राप्त्यर्थमेव भवति। निष्कामस्य त्वात्मज्ञानप्रतिबन्ध[1]निर्मार्ष्ट्यै भवति।

---

[2] **उत्पत्तिविधिविहितानां कर्मणां संस्कारार्थत्वे प्रमाणमाह**—देवयाजी श्रेयानित्यादिना। **फलकामनया देवान्यो यजते स किं श्रेयानुताऽऽत्मशुद्ध्यर्थमेव स्वर्गाद्यासङ्गं हित्वा यो यजते स आत्मयाजी श्रेयानिति प्रश्नं कृत्वाऽऽत्मयाजी श्रेयानिति निरूपितं शतपथे [3]कामानुपघातसहितं मे [4]ममाङ्गमनेन कर्मणा संस्क्रियत इति संस्कारार्थत्वेनैव करोति न कामवशग इत्यर्थः। ब्राह्मी ब्रह्मज्ञानार्हा।** क्रियते तनुरिति। **तनुस्थ [5]आत्मा लक्ष्यते। ननु प्राणाद्युपासनं प्राणादिभावप्राप्त्यर्थमेव, "[6] तेनो [7] एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति" इति श्रुतेः। कथमुक्तं कर्मनिर्वर्तकाश्रयप्राणोपासनसहितानि कर्माणि संस्कारार्थानीति तत्राऽऽह**—प्राणादिविज्ञानं चेति। **[8]विविदिषावाक्येन (ण) यज्ञाद्युपलक्षितस्य सर्वस्य कर्मण आत्मज्ञानार्थत्वेन विनियुक्तत्वादुपासनस्य च मानसकर्मत्वादात्मज्ञानप्रतिबन्धकस्य कल्मषस्य निबर्हणद्वारेण स्यादात्मज्ञानार्थत्वमित्यर्थः। अज्ञाभिप्रायेण सप्रयोजनत्वात्तं प्रत्यनारम्भप्रसङ्ग [9]आश्रयहीन इत्युक्तम्। ज्ञान्यभिप्रायेण त्वनिष्टापादनस्येष्टापादनरूपत्वात्प्रसङ्गस्याऽऽभास-**

के लिये ही अल्प-फलत्वादि दोष वाला बन्धन का हेतु माना गया है, निष्काम पुरुष के लिये नहीं। उस निष्काम पुरुष के लिये तो कर्म अपने निष्पादक और आश्रयभूत प्राणों की उपासना के सहित समुच्चय अनुष्ठान किये जाने पर संस्कार के ही हेतु होते हैं। "देवयाजी श्रेष्ठ है अथवा आत्मयाजी

---

१. निर्मार्ष्ट्या इति—क्तिनि वृद्धिश्चिन्त्या। नञ्घटितमनित्यमिति परिभाषितं निषेधानित्यत्वमादाय वोपपादनीया। २. उत्पत्तिविधीत्यादि—विधिश्चतुर्विधः उत्पत्तिविधिर्विनियोगविधिरधिकारविधिःप्रयोगविधिश्चेति। तत्र कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः। अत्र मात्रपदेनोत्पत्तिविधेः कर्मणः फलादिना सह संबन्धबोधकत्वं वार्यते। स चाग्निहोत्रं जुहोतीत्यादिरूपः। अङ्गप्रधानसंबन्धबोधको विधिर्विनियोगविधिः। यथा दध्ना जुहोतीति। कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः। कर्मजन्यफलस्वाम्यं कर्मजन्यफलभोक्तृत्वं स च यजेत स्वर्गकाम इत्यादिरूपः। प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः। प्रयोगस्य—एककर्मतापन्नाङ्गप्रधानात्मककर्मसंघातस्य प्राशुभावः उत्तरोत्तरकर्मणो विलम्बराहित्यम् तद्बोधकः स च प्रयोगविधिः प्रयाजाद्यङ्गजातवाक्यैकवाक्यतामापन्नो दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेत्यादिप्रधानविधिरेव। अयं च पूर्वोक्तविधित्रयमेलनात्मक एव नत्वतिरिक्तः। अत्र विनियोगविधिरुत्पत्तिविधावेवौपसर्जनीभवति अधिकारप्रयोगविध्योश्च फलसंबन्धेन काम्यान्तर्भावात्र संस्कारार्थत्वम् उत्पत्तिविधिस्तु फलसंबन्धाभावेन नित्यादिरूपतया तद्विहितकर्मणां संस्कारार्थत्वमिति भावः। ३. कामानुपघातसहितमिति—कामसंबन्धरहितं यथा स्यात्तथा करोतीत्यन्वयः। ४. ममाङ्गमित्यङ्गस्थमन्तःकरणं लक्षयितव्यम्। ५. आत्मा—अन्तःकरणम्। ६. तेनो इति—तेन उ इति च्छेदः। तेन उपासनेन। ७. एतस्यै देवतायै—एतस्या देवतायाः प्राणाभिधाया इत्यर्थः। ८. विविदिषावाक्येनेति—तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनेति वाक्येनेत्यर्थः। ९. आश्रयहीन इति—निराधारो निर्निमित्तो निष्प्रमाण इति यावत्।

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः। केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ।।१।।

यह मन किससे प्रेरित हुआ (अपने) अभीष्ट विषयों के प्रति जाता है? किससे प्रयुक्त होकर प्रथम (मुख्य) प्राण चलता है, (सभी प्राणी) किसके द्वारा प्रेरित हो इस अभीष्ट वाणी को बोलते हैं और कौन देव चक्षु एवं श्रोत्र को प्रेरित करता है? ।।१।।

मुपपद्यते। [1]वस्तुप्राधान्ये सत्यपुरुषतन्त्रत्वाद्ब्रह्मविज्ञानस्य। तस्माद्दृष्टादृष्टेभ्यो बाह्यसाधन-साध्येभ्यो विरक्तस्य, प्रत्यगात्मविषया ब्रह्मजिज्ञासेयं, केनेषितमित्यादिश्रुत्या प्रदर्श्यते। शिष्या-चार्यप्रश्नप्रतिवचनरूपेण कथनं तु सूक्ष्मवस्तुविषयत्वात्सुखप्रतिपत्तिकारणं भवति। केवलतर्कागम्यत्वं च दर्शितं भवति। "नैषा तर्केण मतिरापनेया" इति श्रुतेश्च। "आचार्यवान्पुरुषो वेद" "आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्" इति। "तद्विद्धि प्रणिपातेन "इत्यादिश्रुतिस्मृतिनियमाच्च। कश्चिद्गुरुं ब्रह्मनिष्ठं विधिवदुपेत्य प्रत्यगात्मविषयादन्यत्र शरणमपश्यन्नभयं नित्यं शिव-मचलमिच्छन्पप्रच्छेति कल्प्यते। केनेषितमित्यादि। केनेषितमिति केन कर्त्रेषितमिष्टमभिप्रेतंसन्मनः

सतीत्याशङ्क्याऽऽह—वस्तुप्राधान्ये सतीति। **विधिजन्यप्रयत्नभाव्यो हि विधिविषय उच्यते ज्ञानं न तथेति तद्विधेरसिद्धिरित्यर्थः। यस्मात्प्रत्यगात्मनो ब्रह्मतानिश्चयस्य परोक्षस्यापरोक्षस्य वा कर्मणा समुच्चयोन प्रामाणिकस्तस्मादित्युपसंहरति—**तस्मादिति। **प्रश्नप्रतिवचनरूपेण प्रतिपादनस्य तात्पर्य-माह—** शिष्याचार्येति। **आपनेया प्रापणीया हन्तव्या वा न भवतीत्यर्थः। साधिष्ठं शोभनतमं फलं**

ज्ञान का कर्मों के साथ सहभाव अनुष्ठान का विरोध भी है। जिस कर्मानुष्ठान में कर्ता, कर्मादि, कारक और स्वर्गादि फल का भेद माना गया है, ऐसे कर्म के साथ सम्पूर्ण भेद से रहित ब्रह्मात्मैक्य विज्ञान का रहना युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता क्योंकि ब्रह्मज्ञान वस्तुतन्त्र है, कर्ता पुरुष के अधीन नहीं। अतः **"केनेषितम्"** इत्यादि श्रुति से यही बात बतलायी गयी है कि दृष्ट और अदृष्ट बाह्य साधन एवं साध्यों से विरक्त पुरुष में ही प्रत्यगात्म-विषयक ब्रह्मजिज्ञासा उत्पन्न होती है। शिष्य और आचार्य के प्रश्नोत्तर रूप से कहा गया प्रसंग सुगमता से सूक्ष्म वस्तुतत्त्व का ज्ञान कराने में कारण होता है इसके अतिरिक्त केवल तर्क से इसकी अगम्यता भी दिखलायी गयी है। "आचार्यवान् पुरुष ब्रह्म को जानता है" "आचार्य से प्राप्त विद्या ही उत्कृष्ट फल को प्राप्त करती है" "साष्टांग प्रणाम के द्वारा उसे जानो" इत्यादि श्रुति-स्मृति प्रतिपादित नियम से भी यह सिद्ध होता है। किसी शिष्य ने प्रत्यगात्मविषयक ज्ञान को छोड़कर अन्य आश्रय न देख उस अभय, नित्य कल्याणस्वरूप अचल पद की आकाँक्षा करते हुए किसी ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास विधिवत् उपसत्तिपूर्वक पूछा, ऐसे अर्थ की कल्पना आगे की श्रुति

---

१. वस्त्वित्यादि—वस्तुप्रमाणाधीनत्वादिति यावत्। प्रमाणस्य वस्त्वनुसारित्वात्प्रमाणापेक्षया विषयवस्तुनः प्राधान्यमिति भावः।

आदर्शनिर्माजनवत्। उत्पन्नात्मविद्यस्य त्वनारम्भो, निरर्थकत्वात्।

" कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः" इति।

"क्रियापथश्चैव पुरस्तात्संन्यासश्च तयोः संन्यास एवात्यरेचयत्" इति "त्यागे-नैके" "नान्यः पन्था विद्यते" इत्यादिश्रुतिभ्यश्च न्यायाच्च। उपायभूतानि हि कर्माणि संस्कारद्वारेण ज्ञानस्य, ज्ञानेन त्वमृतत्वप्राप्तिः, "अमृतत्वं हि विन्दते" "विद्यया विन्दतेऽमृतम्" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च। नहि नद्याः पारगो नावं न मुञ्चति यथेष्ट-देशगमनं प्रति स्वातन्त्र्ये सति। नहि स्वभावसिद्धं वस्तु सिषाधयिषति साधनैः स्वभावसिद्धश्चाऽऽत्मा तथा नाऽऽपिपयिषितः। [१]आत्मत्वे सति नित्याप्तत्वात्। नापि"

त्वमाह— उत्पन्नात्मविद्यस्येति। न केवलं [२]श्रुतिप्रामाण्यादेव विवेकिनः कर्मानारम्भः, साध्यसिद्धौ साधनं नाऽऽद्रियत इति लौकिकन्यायाच्च कर्मानारम्भः सिद्ध इत्यर्थः। ज्ञानफले कैवल्येऽनुपयोगाच्च ज्ञानिनः कर्मानारम्भ इष्ट इत्याह—नहि स्वभावसिद्धमित्यादिना। उत्पत्तिराप्तिर्विकृतिः संस्कृतिश्चेति चतुर्विधं

श्रेष्ठ है" ऐसा प्रसंग प्रारम्भकर वाजसनेयी श्रुति में कहा गया है कि इससे मेरा यह अंग संस्कृत होगा, ऐसा समझकर आत्मयाजी केवल संस्कार के लिये ही कर्म करता हैं

"महायज्ञ और यज्ञों द्वारा यह शरीर ब्रह्मप्राप्ति के योग्य किया जाता है" "यज्ञ, दान और तप; ये मनीषियों को पवित्र करने वाले माने गये हैं" इत्यादि स्मृतियों से भी उक्त अर्थ सिद्ध होता है।

केवल प्राणादि उपासना अथवा कर्म सहित प्राणादि उपासना सकाम पुरुष के लिये केवल प्राणत्व प्राप्ति में ही कारण होती है, किन्तु वही उपासना दर्पण को शुद्ध करने के समान निष्काम पुरुष के लिये आत्मज्ञान के प्रतिबन्धकों का नाशक होती है। इतनी बात अवश्य है कि जिसे आत्मसाक्षात्कार हो चुका है, उसके लिये निष्प्रयोजन होने से कर्मारम्भ आवश्यक नहीं है।

ऐसा ही "जीव कर्म से बँधता है और आत्मज्ञान से मुक्त हो जाता है। इसीलिये पारदर्शी यति लोग कर्म नहीं करते"।

"कर्ममार्ग और संन्यासमार्ग, ऐसे दो साधन पूर्व काल में थे। उन दोनों में से संन्यास ही श्रेष्ठ था" "अमरत्वाकांक्षी कुछ पुरुषों ने त्याग से ही अमरत्व प्राप्त किया" एवं "आत्मज्ञान से अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं" इत्यादि श्रुतियों से भी सिद्ध हो गया। युक्ति से भी उक्त अर्थ ही सिद्ध होता है, कर्म तो चित्त शुद्धि द्वारा तत्त्वज्ञान के साधन हैं, साक्षात् नहीं। अमरत्व की प्राप्ति ज्ञान से ही होती है, यह बात "ज्ञान से अमरत्व प्राप्त कर लेता है" "आत्मविद्या से मोक्ष को प्राप्त करता है" इत्यादि श्रुति-स्मृति से प्रमाणित होती है। कोई भी मनुष्य अपने अभीष्ट देश जाने में

१. संयोगादिना प्राप्तस्याप्यन्नादेरुदरान्तर्गत्यात्मकात्मसात्करणरूपावाप्तिरिष्यते यदा तद्वत्संयोगादिना नित्याप्तत्वे सत्यपि तस्यात्मत्वापादनात्मिकाऽवाप्तिरिष्येतेत्याशङ्क्योक्तम्—आत्मत्वे सतीति। यद्वा आत्मत्वे सतीत्यस्य आत्मत्वादेवेत्यर्थः। एवमग्रेऽपि।
२. श्रुतिप्रामाण्यादिति—एतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्तीत्यादिरपि श्रुतिरवगन्तव्या।

पतति गच्छति स्वविषयं प्रतीति संबध्यते। इषेराभीक्ष्ण्यार्थस्य गत्यर्थस्य चेहासंभवादिच्छार्थस्यैवैतद्रूपमिति गम्यते। इषितमितीट्प्रयोगस्तु च्छान्दसस्तस्यैव प्रपूर्वस्य नियोगार्थे प्रेषितमित्येतत्। तत्र प्रेषितमित्येवोक्ते प्रेषयितृप्रेषणविशेषविषयाकाङ्क्षा स्यात्। केन प्रेषयितृविशेषेण। कीदृशं वा प्रेषणमिति। इषितमिति तु विशेषणे सति तदुभयं निवर्तते। कस्येच्छामात्रेण प्रेषितमित्यर्थविशेषनिर्धारणा[१]द्यद्येषोऽर्थोऽभिप्रेतः

प्रापयतीत्यर्थः। इष आभीक्ष्ण्ये इष गतौ चेति धात्वन्तरसंभवे कथमिच्छार्थस्यैव व्याख्यानमित्याशङ्क्याऽऽह— इषेरिति। आभीक्ष्ण्यं पौनःपुन्यं तद्विषयताया गतिविषयताया वा मनसोऽनभिप्रेतत्वान्मनःप्रवर्तकविशेषस्यैव बुभुत्सितत्वादित्यर्थः। [२]इट्प्रयोगे सति [३]गुणेन भवितव्यम्। तदैषितमिति स्यात्तदभावाच्छान्दसत्वाभिधानं न तु धातोरनिट्त्वाद [४]नुबन्धस्य विकल्पविधानाद [५]न्वेषितमन्विष्टं वेति वैकल्पिकप्रयोगादिति। इषितं प्रेषितमिति पदद्वयस्यार्थवत्त्वमाह— तत्र प्रेषितमित्यादिना। इच्छामात्रेणेति। प्रयत्नमन्तरेण संनिधिमात्रेणेति व्याख्यातं नेदं व्याख्यानमपि शोभते। अपर्यायशब्दभेदस्यार्थ-

---

से की जा रही है।

प्रेरक के विषय में प्रश्न

जिस कर्ता के द्वारा इच्छा से युक्त हुआ मन अपने विषय की ओर जाता है। यहाँ पर **'पतति'** क्रिया का कर्म स्वविषय होने के कारण **'स्वविषयं प्रति पतति'** ऐसा संबन्ध बन जाता है। (आभीक्ष्ण्य अर्थात् बार-बार होना, गति और इच्छा ऐसे तीन अर्थ इस धातु के होते हैं। इनमें से) यहाँ पर आभीक्ष्ण्य और गत्यर्थक इस धातु का 'ग्रहण करना सम्भव न होने के कारण इच्छार्थक इस धातु का ही **'इषितम्'** रूप है, ऐसा जान पड़ता है। (इष् धातु अनिट् होने पर भी इष्टम् के स्थान में) इषितम् कर ऐसा इडागम का प्रयोग वैदिक है। प्र पूर्वक उसी इष् धातु का प्रेरणा अर्थ में **'प्रेषितम्'** ऐसा रूप बना है। यदि यहाँ पर **'प्रेषितम्'** इतना ही कहे होते तो प्रेषण करने वाले प्रेषक और उसके प्रेषण प्रकार के विषय में ऐसी शंका उठ सकती थी कि किस प्रेषक विशेष से अथवा किस प्रकार प्रेषण किया हुआ (यह मन विषयों की ओर जाता हैं)। अतः **'इषितम्'** इस विशेषण के लगा देने पर पूर्वोक्त दोनों शंकाएँ मिट जाती हैं क्योंकि किसी की इच्छामात्र से मन प्रेषित हुआ है, ऐसा विशेष अर्थ निश्चित हो जाता है।

---

१. शङ्कते यदीति। २. लक्ष्यानुरोधेन लक्षणस्य नेयत्वमभिप्रेत्याह—इट्प्रयोगे सतीत्यादि। ३. गुणेन भवितव्यमिति— अन्वेषितमन्विष्टमिति प्रयोगद्वैविध्योपपत्तये न क्त्वा सेडित्यतोऽनन्तरिते निष्ठा शीङ्स्विदीत्यादौ निष्ठेति योगं विभज्य सेण्निष्ठासामान्ये कित्त्वनिषेधस्याभ्युपगम्यत्वादिति भावः। शिष्टप्रयोगोपपत्तये हि योगविभागा आद्रियन्ते बुधैरिति बोध्यम्। ४. अनुबन्धस्य विकल्प विधानादिति—अनुबन्धशब्दोऽत्रागमपर इति केचित्। वस्तुतस्तु "इषुगमियमां छः" इति सूत्रे उकारानुषङ्गाननुषङ्गाभ्यां पाठद्वैविध्यप्रचयादिषिधातोरुदित्त्वस्य वैकल्पिकत्वाङ्गीकरणादित्यर्थः। तथा च यद्युदित्त्वमेव नियतमभविष्यत्तदा उदितो वेति क्त्वायां वेट्कतया यस्य विभाषेति निष्ठायामिण्निषेधादिट्श्छान्दसत्वोक्तिरयोक्ष्यत अनुदित्त्वस्याप्यभ्युपगमे तु तीषसहेत्यादेस्तादिसामान्यविषयतया यस्य विभाषेत्यस्य च निष्ठातिरिक्त एव विकल्पवति प्रसराभ्युपगमेनेषेर्निष्ठायामिड्विकल्पसंभवाद्गुणाभावेनैव च्छान्दसत्वोक्तिर्नेयेति भावः। ५. अन्वेषितमन्विष्टं वेतीति—न चैतण्णिजणिज्भ्यामुपपादयितुं युक्तमर्थैक्यादिति भावः।

विचिकारयिषितः, आत्मत्वे सति नित्यत्वादविकारित्वादविषयत्वादमूर्तत्वाच्च। [१] श्रुतेश्च "न वर्धते कर्मणा" इत्यादि। स्मृतेश्च "अविकार्योऽयमुच्यते" इति। न च [२] संचिकीर्षितः। "शुद्धमपापविद्धम्" इत्यादिश्रुतिभ्यः। अनन्यत्वाच्च। अन्येनान्यत्संस्क्रियते न चाऽऽत्मनोऽन्यभूता क्रियाऽस्ति, न च स्वेनैवाऽऽत्मना स्वमात्मानं संचिकीर्षेत्। न च वस्त्वन्तराधानं नित्यं प्राप्तिर्वा वस्त्वन्तरस्य नित्या। नित्यत्वं चेष्टं मोक्षस्य। अत उत्पन्नविद्यस्य कर्मारम्भोऽनुपपन्नः। अतो व्यावृत्तबाह्यबुद्धेरात्मविज्ञानाय केनेषितमित्याद्यारम्भः। प्रवृत्तिलिङ्गाद्विशेषार्थः प्रश्न उपपन्नः। रथादीनां हि चेतना-

---

क्रियाफलं स्वरूपावस्थाने कैवल्ये न संभवतीत्युक्तम्। यदि च परमानन्दगुणस्याऽऽत्मन्याधानं ब्रह्माण्डाद्बहिःस्थितब्रह्मप्राप्तिर्वा जीवस्य कैवल्यं कल्प्यते तर्ह्यनित्यत्वं दुर्वारमित्याह—न च वस्त्वन्तराधानमिति। **एवमुपनिषदारम्भं संभाव्य वाक्यस्यार्थं संगृह्णाति**—प्रवृत्तिलिङ्गादिति। **शिष्याचार्ययोः प्रश्नप्रतिवचनरूपा श्रुतिः सुखप्रतिपत्त्यर्था प्रवृत्ता तत्र प्रश्नः किं ज्ञातेऽज्ञाते वे[३]तिचोद्यनिरासाय सामान्यतो ज्ञातेऽपि विशेषतश्चाज्ञाते संभवति [४] विकल्पकरणवदिति सूत्रितमेतद्विवृणोति**—रथादीनां

स्वतन्त्र होता हुआ नदी पार कर लेने पर नौका को नहीं छोड़ता, ऐसी बात नहीं है (किन्तु वह नौका को छोड़ ही देता है)। स्वभावसिद्ध वस्तु को कोई भी पुरुष साधनों से सिद्ध नहीं करना चाहता है। आत्मा भी स्वभाव सिद्ध है। वैसे ही आत्मस्वरूप होते हुए नित्यप्राप्त होने के कारण आत्मा को प्राप्त करना भी इष्ट नहीं है एवं इसमें विकार भी इष्ट नहीं क्योंकि आत्मा होने के कारण वह नित्य, निर्विकार, अविषय और अमूर्त भी है। इसी बात को "आत्मा कर्म से बढ़ता नहीं है" इत्यादि श्रुति से और "यह आत्मा अविकार्य कहा जाता है" इत्यादि स्मृति से भी कहा है। "आत्मतत्त्व शुद्ध और निष्पाप है" इत्यादि श्रुतियों से आत्मा में संस्कार करना भी अभीष्ट सिद्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त अपने से अभिन्न होने के कारण भी वह आत्मा संस्कार के योग्य नहीं है क्योंकि दूसरी वस्तु से दूसरी वस्तु में संस्कार हुआ करता है। आत्मा से भिन्न तो कोई क्रिया भी नहीं है। अपने से अपने में संस्कार की इच्छा कोई क्यों करने लगेगा, दूसरी वस्तु पर दूसरी वस्तु का आधान नित्य नहीं हो सकता और न दूसरी वस्तु को दूसरी वस्तु ही प्राप्त हो सकती है। मोक्ष की नित्यता सभी को अभीष्ट है। अतः जिसे आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया है, उसके लिए कर्म का आरम्भ अयुक्त है। अतएव बाह्य विषय से उपरत बुद्धि वाले पुरुष को आत्मबोध कराने के लिये **'केनेषितम्'** इत्यादि उपनिषत् प्रारम्भ की जाती है।

(मन आदि अचेतन हैं, अचेतन में प्रवृत्ति चेतन अधिष्ठाता के विना बन नहीं सकती।)

---

१. श्रुतेश्चेति—इत्यादिश्रुतेरिति व्यवहितेनाप्येकपद्यम् "तं पातयां प्रथममास पपात पश्चादित्यत्र यथा" इत्याद्यर्थजातं श्रुतेश्चाधिगम्यत इति वा योज्यम्। २. संचिकीर्षित इति—अत्र "संपरिभ्यां करोतौ भूषणे" "अडभ्यासव्यवायेऽपि सुट्कात्पूर्व" इति सुटा भवितव्यम्। सन्नन्तस्य धात्वन्तरत्वमभिप्रेत्य वा तं नाकरोत्। एवमग्रेऽपि। ३. इति चोद्येति—ज्ञाते ज्ञातत्वादे प्रश्नोऽनर्थकोऽज्ञाते त्वशक्य एव स इति चोदयितुराशय उन्नेयः। ४. "यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे" इति न्यायेनाह—विकल्पकरणवदिति। ज्ञातेऽज्ञाते वेति विकल्पो ज्ञातेऽज्ञाते वेति चोद्ये यदुत्तरं तदेवात्रेति भावः।

स्यात्केनेषित[१]मित्येतावतैव सिद्धत्वात्प्रेषितमिति न वक्तव्यम्। अपि च शब्दाधिक्यादर्थाधिक्यं युक्तमिती[२]च्छया कर्मणा वाचा वा केन प्रेषितमित्यर्थविशेषोऽवगन्तुं युक्तः। न, प्रश्नसामर्थ्याद्। देहादिसंघातादनित्यात्कर्मकार्याद्विरक्तोऽतोऽन्यत्कूटस्थं नित्यं वस्तु बुभुत्समानः पृच्छतीति सामर्थ्या[३]दुपपद्यते। इतरथेच्छावाक्कर्मभिर्देहादिसंघातस्य प्रेरयितृत्वं प्रसिद्धमिति प्रश्नोऽनर्थक एव स्यात्। [४]एवमपि प्रेषितशब्दस्यार्थो न प्रदर्शित एव। [५]न। संशयवतोऽयं प्रश्न इति प्रेषितशब्दस्यार्थविशेष उपपद्यते। [६]किं यथाप्रसिद्धमेव कार्यकरणसंघातस्य प्रेषयितृत्वं किं वा संघातव्यतिरिक्तस्य स्वतन्त्रस्येच्छामात्रेणैव मनआदिप्रेषयितृत्वमित्यस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थं केनेषितं पतति प्रेषितं मन इति विशेषण-

---

भेद[७]व्यभिचारादित्याह—अपि चेति। **त्वदुक्तोऽयमर्थविशेषो न घटते संघातस्यैवेच्छादिभिः प्रवर्तकत्व-सिद्धेः प्रश्नानुपपत्तिप्रसङ्गादित्याह**—न प्रश्नेति। **मनसः स्वातन्त्र्यात्स्वव्यतिरिक्तप्रवर्तकसंभावना-**

शंका:—यदि यही अर्थ अभीष्ट हो तो **'केनेषितम्'** इतने मात्र से उक्त अर्थ सिद्ध हो जाने के कारण **'प्रेषितम्'** यह विशेषण नहीं करना चाहिये था। जब शब्दों की अधिकता भी उचित ही है। अत: इच्छा से, कर्म से या वाणी से प्रेषित हुआ है; इस प्रकार प्रेषक विषय का ज्ञान प्राप्त करना युक्ति-युक्त प्रतीत होता है।

समाधान :— प्रश्न सामर्थ्य से ऐसा अर्थ प्रतीत नहीं होता है क्योंकि इससे यह निश्चित हो जाता है कि जो पुरुष कर्म के कार्य अनित्य देहादि-संघात से विरक्त है और इनसे भिन्न कूटस्थ नित्य वस्तु को जानना चाहता है, वही यहाँ पर पूछता है, ऐसा प्रश्न सामर्थ्य से अर्थ प्रतीत होता है, नहीं तो इच्छा, वाणी और कर्म के द्वारा इस देहादि-संघात का प्रेरकत्व प्रसिद्ध ही है। इस बात को सभी जानते हैं। अत: प्रश्न निरर्थक ही हो जाता। ऐसा मानने पर भी प्रेषित शब्द का अर्थ तो स्पष्ट हुआ ही नहीं? ऐसा कहना ठीक नहीं, यह प्रश्न किसी संशय आरूढ़ पुरुष का है, इसी से प्रेषित शब्द का अर्थ विशेष सिद्ध हो जाता है। यह प्रेरकता लोक प्रसिद्ध स्थूल-सूक्ष्म शरीर के संघातरूप देह में है अथवा संघात से भिन्न किसी स्वतन्त्र तत्त्व में केवल इच्छामात्र से मन आदि की प्रेरकता है; इस अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये "किस कर्ता विशेष द्वारा इच्छित और प्रेरित हुआ मन अपने विषयों की ओर जाता है", ऐसे दोनों विशेषणों का देना युक्तिसंगत हो जाता है। यदि कहो कि स्वतन्त्र मन

---

१. इत्येतावतैवेति—इषितमित्यस्यैवेच्छया प्रेरितमित्यर्थसंभवादिति भावः। २. इच्छयेत्यादि—इषितमित्यस्येच्छया प्रवर्तितमिति प्रेषितमित्यस्य तु कर्मणा वाचा वा प्रवर्तितमित्यर्थोऽस्त्विति भावः। ३. उपपद्यत इति—अस्मदुक्त एवार्थ इति शेषः। ४. प्रश्नानुपपत्त्येच्छाकर्मार्थविशेषानवगमेऽपि संनिधानात्मकेच्छामात्रप्रवर्तितत्वस्येषितमित्यनेनैव लभ्यतया प्रेषितपदवैयर्थ्यं तदवस्थमेवेति शङ्कते—एवमपीत्यादिना। ५. सिद्धान्तगत्या पदद्वयसार्थक्यं तत्र प्रेषितमित्यादिनोक्तमपि बुद्धिं नारोहति चेद्विधान्तरेण तद्वदन् प्रतिविधत्ते—नेत्यादिना। ६. संशयाकारं दर्शयन् पदद्वयस्यार्थवत्त्वं स्फुटयति—किमिति। तत्र प्रेषितमित्यस्य संघातेनैवेच्छादिना प्रेरितं वेत्यर्थः। इषितमित्यस्य तु संघातव्यतिरिक्तेन तदसंहतेन स्वसांनिध्यमात्रेण प्रवर्तितं वेत्यर्थः। ७. व्यभिचारादिति—व्यभिचारापत्तेरित्यर्थः। अव्यभिचारादित्येवात्र पाठः साधीयान्।

वदधिष्ठितानां प्रवृत्तिर्दृष्टा नानधिष्ठितानाम्। मनआदीनां चाचेतनानां प्रवृत्तिर्दृश्यते। तद्धि लिङ्गं चेतनावतोऽधिष्ठातुरस्तित्वे। करणानि हि मनआदीनि नियमेन प्रवर्तन्ते। तन्नासति चेतनावत्यधिष्ठातर्युपपद्यते। [1]तद्विशेषस्य चानधिगमाच्चेतनावत्सामान्ये चाधिगते विशेषार्थः प्रश्न उपपद्यते केनेषितं केनेष्टं कस्येच्छामात्रेण मनः पतति गच्छति स्वविषये नियमेन व्याप्रियत इत्यर्थः। मनुतेऽनेनेति विज्ञाननिमित्तमन्तःकरणं मनः [2]प्रेषितमिवेत्युपमार्थः। न त्विषितप्रेषितशब्दयोरर्थाविह संभवतः। न हि [3] शिष्यानिव मनआदीनि विषयेभ्यः प्रेषयत्यात्मा [4] विविक्तनित्यचित्स्वरूपतया तु निमित्तमात्रं

हीति। **मनआदीनामेव चेतनत्वादचेतनप्रवृत्तत्वादित्यसिद्धो हेतुरिति नाऽऽशङ्कनीयमित्याह**—करणानि हीति। **अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमित्यादिलोकानुभवान्मनआदीनां करणत्वं सिद्धं ततः प्रदीपवदचेतनत्वं सिद्धमित्यर्थः। इच्छामात्रेणेति [5]प्रयत्नाद्यभावो लक्ष्यते नत्विच्छास्तित्वं निर्विकारताया विवक्षितत्वात्। प्रेषितमिवेतीवशब्दाध्याहारेण किमिति व्याख्यातम्। यथा राज्ञ इच्छामात्रेण काचिद्भृत्यप्रवृत्तिः काचिच्च वागादिव्यापारेण तद्वदिह किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह**—न त्विति। **सक्रियस्य सर्वस्यानित्यतयाऽवधारितत्वान्निष्क्रियं वस्तु पिपृच्छिषितं ततो नार्थ[6]भेदः संभवतीत्यर्थः।** विषयेभ्य इति। **विषयग्रहणार्थं [7] नित्यचिकित्सायामधिष्ठातुश्चकोरस्य संनिधिमात्रेण यथा राजभोजना-**

अतः अचेतन मन में) प्रवृत्तिरूप लिंग से उनके प्रेरक किसी विशेष तत्त्व के संबन्ध में प्रश्न करना उचित ही है, क्योंकि अचेतन रथादि की प्रवृत्ति चेतन प्राणियों से अधिष्ठित होने पर ही देखी जाती है, उनसे अधिष्ठित हुए बिना नहीं देखी जाती। अचेतन मन आदि की प्रवृत्ति भी देखी जाती है, वह प्रवृत्ति ही उनके चेतन अधिष्ठाता के अस्तित्व का ज्ञापक लिंग है। मन आदि करण नियम से प्रवृत्त हो रहे हैं। चेतन अधिष्ठाता के बिना इनकी प्रवृत्ति बन नहीं सकती। इस प्रकार सामान्य रूप से चेतन के अस्तित्व का ज्ञान हो जाने पर भी उसके विशेषरूप का ज्ञान न होने के कारण उसके विशेष स्वरूप निर्धारण के लिये यह प्रश्न उचित ही है, **"केनेषितम्"**। किसकी इच्छामात्र से मन अपने विषयों की ओर जाता है अर्थात् वह मन किसकी इच्छा से अपने विषय में नियमानुसार व्यापार करता है। पुरुष जिससे मनन करता है, उस विज्ञान के निमित्त अन्तःकरण को मन कहा गया है। यहाँ पर किसके द्वारा प्रेरित हुआ-सा वह मन (विषयों की ओर जाता है) ऐसा उपमापरक अर्थ कर लेना चाहिये क्योंकि इषित और प्रेषित शब्दों के मुख्य अर्थ यहाँ पर ग्रहण करना सम्भव नहीं है। जैसे गुरु शिष्यों को प्रेरित करता है, इस प्रकार आत्मा मन आदि को विषयों की ओर नहीं भेजता, वह तो लोक से विलक्षण और नित्यस्वरूप होने के कारण

---

१. विशेषार्थ इत्यादिसंग्रहशेषं व्याकरोति—तद्विशेषस्येत्यादिना। २. प्रेषितमिवेति—प्रेरितभृत्यादिवदित्यर्थः। ३. शिष्यानिवेति—गुरुरिति शेषः। ४. विविक्तेति—सर्वतोऽसङ्गीत्यर्थः। इदं च शिष्यानिव न प्रेषयतीत्यत्र हेतुः। नित्यचित्स्वरूपत्वं प्रवृत्तौ निमित्तमात्रत्व इति विवेकः। ५. प्रयत्नाद्यभाव इति—सांनिध्यमात्रमिति यावत्। ६. अर्थभेद इति—इच्छाप्रेषणादिरूपोऽर्थविशेष इत्यर्थः। ७. नित्यचिकित्सा क्षुद्व्याधिप्रतीकाररूपा भुक्तिस्तत्र प्रवृत्त्यप्रवृत्तिनियामकत्वादधिष्ठाता चकोरः। स हि भुक्तिसमये संनिहितः सविषन्नोपस्थितिमात्रेण नेत्रे निमीलयति नान्यथेति तेन परीक्ष्य राज्ञो भोजने प्रवृत्तिरित्याशयेन व्याचष्टे—नित्येत्यादिना।

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मन यद्वाचो ह वाचं स उ
प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुः। अतिमुच्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।।२।।

जो श्रोत्रका श्रोत्र, मन का मन और वाणी की वाणी है, वही प्राण का प्राण तथा चक्षु का चक्षु है, (अर्थात् श्रोत्रादि में श्रवण आदि का सामर्थ्य जिससे है उसे जानकर) धीर पुरुष इस लोक से जाकर अमर हो जाते हैं ।।२।।

द्वयमुपपद्यते। ननु स्वतन्त्रं मनः स्वविषये स्वयं पततीति प्रसिद्धम्। तत्र कथं प्रश्न उपपद्यत इति। उच्यते। यदि स्वतन्त्रं मनः प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयं स्यात्तर्हि सर्वस्यानिष्टचिन्तनं न स्यादनर्थं च जानन्संकल्पयति। अत्युग्रदुःखे च कार्ये वार्यमाणमपि प्रवर्तत एव मनस्तस्माद्युक्त एव केनेषितमित्यादि प्रश्नः। केन प्राणो युक्तो नियुक्तः प्रेरितः सन्प्रैति गच्छति स्वव्यापारं प्रति। प्रथम इति प्राणविशेषणं स्यात्तत्पूर्वकत्वात्सर्वेन्द्रियवृत्तीनाम्। केनेषितां वाचमिमां शब्दलक्षणां वदन्ति लौकिकाः। तथा चक्षुः श्रोत्रं च स्वे स्वे विषये क उ देवो द्योतनवान्युनक्ति नियुङ्क्ते प्रेरयति ।।१।।

एवं पृष्टवते योग्यायाऽऽह गुरुः शृणु त्वं यत्पृच्छसि। मनआदिकरणजातस्य को

भावात्प्रश्नो न घटत इत्याक्षिप्य समाधत्ते—ननु स्वतन्त्रमित्यादिना। अत्युग्रदुःखे चेति। [१] **अद्यतनीनदुःखे द्यूतादिकार्ये ।।१।।**

स्वयं अपने विषयों की ओर जाता है, ऐसा प्रसिद्ध है, फिर उसके सम्बन्ध में यह प्रश्न ही कैसे संगत होगा? यहाँ पर हमें यह कहना है कि यदि प्रवृत्ति-निवृत्ति में मन स्वतन्त्र होता तो सभी को अनिष्ट चिन्तन होता ही नहीं, (किन्तु इसके विपरीत देखा जाता है कि) मन जान बूझकर भी अनिष्ट का चिन्तन करता है और अत्यन्त दुःखमय कार्य में रोकने पर भी प्रवृत्त हो जाता ही है इसलिये 'केनेषितम्' इत्यादि प्रश्न का होना युक्ति-युक्त ही है।

किसके द्वारा प्रेरित हुआ प्राण अपने व्यापार में लगता है? प्रथम यह प्राण का विशेषण हो सकता है क्योंकि सभी इन्द्रियों की प्रवृत्तियाँ ही तो होती हैं। लौकिक पुरुष किस कर्ता के द्वारा इस इच्छित शब्दरूप वाणी को बोलते हैं तथा प्रकाशमान कौन देव चक्षुः एवं श्रोत्र इन्द्रिय को अपने-अपने व्यापार में प्रेरित करता है ।।१।।

सबका नियन्ता आत्मा है

इस प्रकार पूछने वाले योग्य शिष्य को गुरु ने कहा कि तू जो पूछता है, मन आदि इन्द्रिय

---

१. अद्यतनीनदुःखे—सद्योदुःखप्रद इति यावत्।

प्रवृत्तौ नित्यचिकित्साधिष्ठातृवत्। प्राण इति नासिकाभवः। प्रकरणात्। [१]प्रथमत्वं चलनक्रियायाः प्राणनिमित्तत्वात्[२]स्वतो विषयावभासमात्रं करणानां प्रवृत्तिः। चलिक्रिया तु प्राणस्यैव मनआदिषु। तस्मात्प्राथम्यं प्राणस्य। प्रैति गच्छति युक्तः प्रयुक्त इत्येतत्। वाचो वदनं किंनिमित्तं प्राणिनां, चक्षुःश्रोत्रयोश्च को देवः प्रयोक्ता। करणानामधिष्ठाता चेतनावान्यः स [३] किंविशेषण इत्यर्थः ।।१।।

श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिप्रतिवचनं निर्विशेषस्य निमित्तत्वार्थम्। विक्रियादिविशेषरहितस्याऽऽत्मनो मनआदिप्रवृत्तौ निमित्तत्वमित्येतच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिप्रति-

---

दिप्रवृत्तिनिमित्तत्वं तद्वदित्यर्थः। प्रकरणादिति। **करणसंनिधानादित्यर्थः ।।१।।**

प्रतिवचनवाक्यार्थसंग्रहं विवृणोति–विक्रियादित्यादिना। **मनआदीनां यः प्रवर्तकः स किंविशेष इतिप्रश्नस्य निर्विशेषतैव विशेष इत्युत्तरम्। क्रियाया गुणस्य संबन्धस्य वा विशेषस्य व्यावर्तकधर्मस्य दर्शयितुमशक्यत्वात्क्रियादिमत्त्वे घटादिवदनात्मत्वप्रसङ्गादतो निर्विशेषचैतन्यात्मकोऽहमित्येवं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्। [५] न चाभावेन सद्वयत्वप्रसङ्गः। तस्य पृथक्सत्वाभावात्[६] स्वरूपेण व्यवहाराङ्गत्वादित्युक्तम् [७] अन्यत्र। यदि [८] शौक्ल्यादिवत्कोऽपि विशेषोऽभविष्यत्तदा तमवक्ष्यत्।**

नित्य चिकित्सा के अधिष्ठाता (चकोर पक्षी) के समान उन्मन आदि की प्रवृत्ति में निमित्त मात्र है विषाक्त अन्न को देख चकोर पक्षी की आँखों का रंग बदल जाता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार चकोर केवल राजा के भोजन में निमित्त मात्र है। इसके लिये उसे कुछ करना नहीं पड़ता।

यहाँ पर प्रकरणवशात् नासिका में रहने वाले वायु को ही प्राण कहा गया है। सम्पूर्ण चलन क्रिया प्राण के निमित्त से ही होती है। अतः प्राण में प्रधानता मानी गयी है। इन्द्रियों की स्वतः प्रवृत्ति केवल विषयों के प्रकाशन मात्र में ही है, चलन आदि क्रिया तो मन आदि में प्राण की ही है। अतः प्रधान की प्रधानता उचित ही है। वह प्राण किससे प्रेरित होकर चलता है? वाणी का भाषण किसके निमित्त से होता है? प्राणियों के नेत्र और श्रोत्र को प्रेरित करने वाला देव कौन है? तात्पर्य यह कि पूर्वोक्त इन्द्रियों का अधिष्ठाता चेतन तत्त्व जो है, वह किन विशेषणों वाला है ।।१।।

निर्विशेष चैतन्य श्रोत्रादि की प्रवृत्ति में निमित्तमात्र है, यही बात बतलाने के लिये **"श्रोत्रस्य श्रोत्रम्"** इत्यादि उत्तर वाक्य है। निर्विकार, निर्विशेष, चैतन्य आत्मा मन आदि की प्रवृत्ति में

---

१. घ्राणप्राणावेकीकृत्याह–प्रथमत्वमित्यादि। प्रथमत्वं प्राधान्यम्। २. स्वत इति–प्राणोपकृतिमनपेक्ष्येति यावत्। ३. किंविशेषण इति–विशेषणं व्यावर्तको धर्मः सोऽस्य कस्य इत्यर्थः। ४. निमित्तत्वार्थमिति–निमित्तत्वमर्थोऽभिधेयं यस्येति विग्रहः। ५. ननु चैतन्ये निर्विशेषत्वं नाम विशेषाभावस्तथा च तमेवाभावमादाय तस्य सद्वयत्वमित्याशङ्क्य निरस्यति–न चाभावेनेति। ६. तस्य अभावस्याधिकरणात्पृथक् सत्त्वं नास्ति चेत्कथं तर्हि घटाभाववद्भूतलमित्यादिव्यवहारस्तत्राऽऽह–स्वरूपेणेत्यादि। व्यवहाराय तु तत्स्वरूपं कल्प्यते। कल्पितेनापि स्वरूपेण व्यवहारोपपत्तेरिति भावः। ७. अन्यत्रेति–भाष्यवार्तिकादावित्यर्थः। तथा चोक्तमक्षरब्राह्मणवार्तिकेना"भावनिष्ठोऽन्यत्रापि निषेधः किमुताक्षर" इति। ८. शौक्ल्यादिवदिति–यथा शुक्लादिवस्त्रादेः शौक्ल्यादिर्विशेषस्तद्वदित्यर्थः।

देवः स्वविषयं प्रति प्रेरयिता कथं वा प्रेरयतीति। श्रोत्रस्य श्रोत्रं शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं शब्दस्य श्रवणं प्रति करणं शब्दाभिव्यञ्जकं श्रोत्रमिन्द्रियं तस्य [१]श्रोत्रं स यस्त्वया पृष्टश्चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्तीति। असावेवंविशिष्टः श्रोत्रादीनि नियुङ्क्त इति वक्तव्ये नन्वेतदननुरूपं प्रतिवचनं श्रोत्रस्य श्रोत्रमिति। नैषः दोषः। तस्यान्यथाविशेषानवगमात्। यदि हि श्रोत्रादिव्यापारव्यतिरिक्तेन स्वव्यापारेण विशिष्टः श्रोत्रादिनियोक्ताऽवगम्येत दात्रादिप्रयोक्तृवत्तदेदमननुरूपं प्रतिवचनं स्यात्। न त्विह श्रोत्रादीनां प्रयोक्ता स्वव्यापारविशिष्टो लवित्रादिवदधिगम्यते। श्रोत्रादीनामेव तु संहतानां व्यापारेणाऽऽलोचनसंकल्पाध्यवसायलक्षणेन फलावसानलिङ्गेनावगम्यते। अस्ति हि

प्रतिवचनस्य प्रश्नाननुरूपत्वमाशङ्क्य समाधत्ते—असावेवंविशिष्ट इत्यादिना। श्रोत्रादयः स्वविलक्षणशेषाः संहतत्वाद्गृहादिवदित्यनुमानेन श्रोत्रादिशेषी तावदवगम्यते यदि सोऽपि संहतः स्यात्तर्हि गृहादिवदचेतनः स्यात्। ततस्तस्याप्यन्यः शेषी कल्प्यस्तस्याप्यन्य इत्यनवस्थाप्रसङ्गपरिहारायासंहतश्चेतनो गम्यते। अतः सर्वसाक्षिणं लक्षयितुं युक्तमेवं प्रतिवचनमित्यर्थः। फलावसानं [२]फलनिष्पत्तिलिङ्गं यस्मिन्नवगत्या हि करणस्य व्यापारो लिङ्ग्यते [३]नित्यावगतिव्यञ्जकत्वाद्वा [४]फलावसान-

---

समूह को अपने विषयों की ओर कौन देव प्रेरित करता है और उन्हें वह किस प्रकार प्रेरित करता है, इस प्रश्न का उत्तर सुन। जिससे सुनता है, वह शब्द का अभिव्यञ्जक श्रोत्र इन्द्रिय श्रवण है। उसका भी वह श्रोत्र है, जिसके सम्बन्ध में तूने पूछा है कि चक्षु और श्रोत्र को नियुक्त करने वाला देव कौन है।

यहाँ पर प्रश्न के उत्तर में यह बतलाना चाहिये था कि इस प्रकार के गुणों से विशिष्ट हो श्रोत्रादि को प्रेरित करता है किन्तु वह श्रोत्र का श्रोत्र है, ऐसा उत्तर प्रश्न के अनुरूप नहीं जान पड़ता।

यह कोई दोष नहीं क्योंकि उस प्रेरक का किसी और प्रकार से विशेषरूप जाना नहीं जा सकता। जैसे दराती आदि का प्रयोग करने वाला पहले क्रिया विशिष्ट हो लेता है, फिर दराती का प्रयोग करता है, ठीक वैसे ही श्रोत्रादि व्यापार से अतिरिक्त किसी अपने व्यापार से अतिरिक्त किसी अपने व्यापार से विशिष्ट हो कोई श्रोत्रादि का नियोजक जानने में आता तो आपके कथनानुसार पूर्वोक्त उत्तर अननुरूप हो सकता था किन्तु खेत काटने वाले कृषक के समान कोई श्रोत्रादि का प्रयोजक अपने व्यापार से विशिष्ट जाना नहीं जाता है। श्रोत्रादि-संघात के प्रेरक का ज्ञान उसके आलोचन, संकल्प एवं निश्चयरूप व्यापार फलावसान पर्यन्त नियोजक के अवबोध करने में लिंग है।

---

१. श्रोत्रं साक्षीति यावत्। २. फलेति—प्रमोत्पत्तिः। ३. नित्येत्यादि—नित्यावगतिश्चित् सा हि श्रोत्रादिव्यापारोत्पन्नशब्दाद्याकारवृत्तौ साक्षित्वेनाभिव्यज्यत इति भावः। ४. फलेत्यादि—फलस्य वृत्तेरवसानं पर्यवसानभूमिश्चित् तल्लिङ्गमित्यर्थः।

वचनस्यार्थः। अनुगमा[1]त्तदनुगतानि ह्यत्रास्मिन्नर्थेऽक्षराणि। कथं? शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं तस्य शब्दावभासकत्वं [2]श्रोत्रत्वम्। शब्दोपलब्धृरूपतयाऽवभासकत्वं न स्वतः, श्रोत्रस्याचिद्रूपत्वात्। आत्मनश्च चिद्रूपत्वात्। यच्छ्रोत्रस्यो[3]पलब्धृत्वेनावभासकत्वं तदात्म-

---

श्रुतिस्[4]तूपलक्षणवृत्त्यैव प्रतिवचनं ब्रुवाणा निर्विशेषत्वं मन्यत इति श्रुत्यक्षरानुसाराद्गम्यत इत्याह— अनुगमादिति। निर्विशेषत्ववाचकपदाभावात्कथं निर्विशेषेऽक्षरानुगम इत्याह— कथमिति। निर्विशेषस्य वाचकशक्त्या वाक्यार्थत्वाभावेऽप्यु[5]पलक्षणवृत्त्या भविष्यतीत्यभिप्रेत्य श्रोत्रशब्दस्य तावन्मुख्यार्थमाह— शृणोतीति। शब्दावभासकत्वं स्वशक्त्यैव भविष्यति श्रोत्रस्य, कथं तस्य शब्दावभासकत्वेनाऽऽत्मोपलक्षयितव्य इत्याकाङ्क्षायामाह— शब्दोपलब्धृरूपतयेति। शक्तिः सतः [6]प्रकाशमानस्यैव वाच्या नासतोऽप्रकाशमानस्य नरविषाणायमानत्वेन शक्तिमत्त्वानुपपत्तेः। सत्ता प्रकाशश्चाऽऽत्मरूपं तद्भेदे [7]मानाभावादत उपलब्धृतादात्म्येनैव श्रोत्रस्यावभासकत्वं न स्वातन्त्र्येण जडत्वात्। जडस्य च सत्ताहीनत्वाच्छुक्तिरूप्यस्येवेत्यर्थः। श्रोत्रस्यावभासकत्वमुपलब्धृतादात्म्येनेति यद्युपलब्धोपलक्ष्यते तर्ह्युपलब्धुरप्यवभासकत्वमन्याधीनमित्यनवस्था प्राप्नोतीत्याशङ्क्याऽऽह— आत्मनश्चेति। स्वप्रकाशत्वादुपलब्धुः सत्ताप्रतीत्योरनन्यायत्तत्वान्नानवस्थेत्यर्थः। भवत्वेवमनवस्थाभावः। तथाऽपि कथं श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यात्मोच्यत इत्याशङ्क्याऽऽह— यच्छ्रोत्रस्येति। तदात्मनिमित्तत्वादिति। तस्याऽऽत्मनिमित्तत्वाच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रमित्युपलक्ष्यते निर्विशेषं

निमित्त मात्र है। यही 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि उत्तर वाक्य से अनुगत होता है, क्योंकि इस श्रुति के अक्षर इसी अर्थ में अनुगत होते हैं।

कैसे? जिससे प्राणी सुनता है, उसे श्रोत्र कहते हैं। उसके शब्द-प्रकाशक सामर्थ्य को ही श्रोत्रत्व कहा गया है। जड़ होने के कारण शब्द के उपलब्धारूप से प्रकाशत्व श्रोत्र में स्वतः नहीं है। इसके विपरीत आत्मा चैतन्यरूप है। अतः उपलब्धारूप से श्रोत्र में शब्द-प्रकाशकत्व उसी चैतन्य

---

१. अनुगमादित्येतद्व्याकरोति—तदनुगतानीत्यादिना। अत्र एतच्छ्रुतिघटकानि अक्षराणि। अस्मिन्नर्थे आत्मनो मनआदिप्रवृत्तिनिमित्तत्वरूपे प्रतिवचनस्यार्थे। तदनुगतानि प्रतिवचनार्थघटकीभूतस्यात्मनो निर्विशेषत्वस्य गमकानीति योजना।
२. श्रोत्रत्वमिति—तद्यदधीनं स आत्मेति श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्युक्त्या श्रोत्रस्य शब्दावभासकत्वेनात्मोपलक्ष्यत इति शेषः।
३. उपलब्धृत्वेनेति—उपलब्धृविधयेति यावत्। ४. उपलक्षणवृत्त्येति—यथा देवदत्तादिगृहाणां शौक्ल्यादिसाधारण्येन विशेषाभावे शुक्ला देवदत्तस्य गृहा इति नोच्यते किं तु काकवन्त इत्युपलक्षणवृत्त्यैवोच्यते तथेत्यर्थः। इयांस्तु विशेषो गृहेषु साधारण्यप्रयुक्तो विशेषाभावः प्रकृते त्वसत्त्वप्रयुक्त एवेतरसाधारण्यबाधादिति। यद्वा "रसोऽहमप्सु कौन्तेये" तिवत्तत्र हि रसत्वं यद्यात्मनि विशेषो अभविष्यत्तदाऽप्स्विति नावक्ष्यत्तत्तु ब्रुवन्नपामेव रसवत्त्वं यदधीनं सोऽहमिति निर्विशेषमेवात्मानमुपलक्षयति यथा तथा श्रोत्रादीनां श्रोत्रत्वं यदधीनं स आत्मेति श्रुतिरुपलक्षणवृत्त्या ब्रुवाणा निर्विशेषत्वमेवात्मनोऽभिप्रैतीत्यर्थः।
५. उपलक्षणवृत्त्येति—कयाचिल्लक्षणयेति यावत्। यथा व्यञ्जनया "गच्छ गच्छसि चेत्कान्ते" त्यादावर्थलाभस्तथेहापीति भावः।
६. प्रकाशमानस्यैवेति—सन्नपि यावन्न प्रकाशते न तावदस्येयं शक्तिरिति शक्यमध्यवसातुमिति भावः। ७. मानाभावादिति—नास्मि न स्फुरामीति प्रत्ययाभावादिति यावत्।

श्रोत्रादिभिरसंहतो यत्प्रयोजनप्रयुक्तः श्रोत्रादिकलापो गृहादिवदिति संहतानां परार्थत्वादवगम्यते श्रोत्रादीनां प्रयोक्ता। तस्मादनुरूपमेवेदं प्रतिवचनं श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादि। कः पुनरत्र पदार्थः श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादेः? न ह्यत्र श्रोत्रस्य श्रोत्रान्तरेणार्थः, यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरेण। नैष दोषोऽयमत्र पदार्थः—श्रोत्रं तावत्स्वविषयव्यञ्जनसमर्थं दृष्टम्। तच्च स्वविषयव्यञ्जनसामर्थ्यं श्रोत्रस्य चैतन्ये ह्यात्मज्योतिषि नित्येऽसंहते सर्वान्तरे सति भवति नासतीत्यतः श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्याद्युपपद्यते। तथा च श्रुत्यन्तराणि—"आत्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते" "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" इत्यादीनि।

"यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।"

"क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत" इत्यादि गीतासु।

काठके च—"नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" इति। श्रोत्राद्येव सर्वस्या-

---

लिङ्गं व्यापारस्तेन तच्छेषी लक्ष्यत इत्यर्थः। प्रतिवचनस्य संक्षेपतस्तात्पर्यमाह— श्रोत्राद्येव सर्वस्येति।

उसी से यह जाना जाता है कि गृहादि-संघात जैसे अपने से भिन्न के लिये हैं, वैसे ही जिसके प्रयोजन के लिये श्रोत्रादि करण-कलाप प्रवृत्त हो रहा है, वह तत्त्व श्रोत्रादि से पृथक् कोई अवश्य है, संघात सदा दूसरे के लिये होता है। इसी से श्रोत्रादि का प्रेरक कोई अवश्य है, यह जाना जाता है। अतः **'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्'** इत्यादि उत्तर उचित ही है।

'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि पद का अर्थ फिर क्या है? क्योंकि जैसे एंक प्रकाश से दूसरे प्रकाश को कोई प्रयोजन नहीं रहता, वैसे ही एक श्रोत्र को दूसरे श्रोत्र से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। यह भी कोई दोष नहीं है। यहाँ पर इन पदों का अर्थ यह है कि श्रोत्र अपने विषय को अभिव्यक्त करने में समर्थ देखा ही गया है किन्तु श्रोत्र का अपने विषय को अभिव्यक्त करने का वह सामर्थ्य उससे असंग सर्वान्तर नित्य आत्मज्योति चैतन्य के रहने पर रहता है और न रहने पर नहीं रहता। अतः **'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्'** इत्यादि वाक्य से श्रोत्र में स्वविषय अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य प्रदाता को कहना उचित नहीं है। वैसे ही दूसरी श्रुतियाँ भी कहती हैं यथा— "यह अपने ही प्रकाश से प्रकाशित होता है", "उसके प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है", "जिस तेज से प्रदीप्त हुआ सूर्य तपता है" इत्यादि तथा गीता में भी कहा गया है "जो तेज आदित्य में स्थित हो सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है", "हे भारत! इसी प्रकार सम्पूर्ण क्षेत्र को क्षेत्रज्ञ प्रकाशित करता है"। कठोपनिषत् में भी कहा है कि "वह नित्यों का नित्य और चेतनों का चेतन है इत्यादि सर्व सामान्य लोक में प्रसिद्ध है कि सबका आत्मभूत श्रोत्रादि

---

१. कः पुनरित्यादि। अत्र—एवमनुरूपेऽपि प्रतिवचने यच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादि वाक्यं तद्घटकानां पदानां कस्तावदर्थ इत्यन्वयः।

२. ननु श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यत्र श्रोत्रसंबन्धि श्रोत्रं पुरुषस्य यच्छब्दग्रहणे करणं तस्यापि तत्र तदितिस्फुट एव पदार्थः किमत्र चोद्यते, नेत्याह—न हीत्यादिना। अर्थः प्रयोजनम्। करणस्य करणान्तरापेक्षायामनवस्थानादिति भावः।

निमित्तत्वाच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रमित्युच्यते। [1]यथा क्षत्रस्य क्षत्रं [2]यथा वोदकस्यौष्ण्यमग्नि-निमित्तमिति दग्धुरप्युदकस्य दग्धाऽग्निरुच्यते। उदकमपि ह्यग्निसंयोगादग्निरुच्यते तद्वदनित्यं यत्संयोगादुपलब्धृत्वं तत्करणं श्रोत्रादि। [3]उदकस्येव दग्धृत्वमनित्यं हि तत्र तत्। यत्र तु नित्यमुपलब्धृत्वमग्नाविवौष्ण्यं स नित्योपलब्धिस्वरूपत्वाद्दग्धेवोपलब्धोच्यते। श्रोत्रादिषु श्रोतृत्वाद्युपलब्धिरनित्या नित्या चाऽऽत्मन्यतः श्रोत्रस्य

चैतन्यमात्रमित्यर्थः। यथा क्षत्रस्येति। क्षत्रजातिनियामकं कर्म क्षत्रमित्युच्यते यथेत्यर्थः। यदि श्रोत्रादिसाक्ष्यात्माऽस्ति [5]कथं तर्हि लोकायतिकादेः श्रोत्रादिष्वेवोपलब्धृत्वव्यवहार इत्याशङ्क्याऽऽह— उदकमपीति। तद्वदुपलब्धृसंबन्धाच्छ्रोत्रादिषूपलब्धृत्वव्यवहार इत्यर्थः। भवन्मते तर्हि नित्योपलब्धिस्वभाव आत्मेति श्रोत्रादेः करणत्वं न स्यात्। [6]क्रियायां हि करणापेक्षेत्याकाङ्क्षायामाह— अनित्यं यदिति। प्रमातुर्यत्संबन्धादनित्यमुपलब्धृत्वं भवति बुद्धिपरिणमैस्तच्छ्रोत्रादिकरणं बुद्धिवृत्त्यपेक्षया भवतीत्यर्थः। श्रोत्रादिसंगते [7]प्रमातर्यनित्योपलब्धृत्वसंभवेऽपि तवा[8]सङ्गस्य साक्षिणः कथमुपलब्धृत्वव्यपदेश इत्याशङ्क्याऽऽह— [9]यत्र त्विति। उक्तमर्थं संक्षिप्याऽऽह— श्रोत्रादिष्विति। श्रोत्रादिषु निमित्तेषु सत्सु श्रोत्रादिसंहते प्रमातरि [10]श्रोतृत्वादिरूपोपलब्धिरि[11]त्युपलब्धृत्वमित्यर्थः। मनसो मन इत्यादिष्वेव-

---

आत्मा के निमित्त से है। इसीलिये आत्मा को श्रोत्र का श्रोत्र कहा गया है। जैसे क्षत्रिय जाति के नियामक कर्म को क्षत्र कहते हैं अथवा जैसे उष्ण जल की उष्णता अग्नि के निमित्त से देखी गयी है, इसीलिये ऐसे जलाने वाले जल को भी जलाने वाला अग्नि कहा गया है। अग्नि संयोग से जल भी जलाने वाला कह दिया जाता है, ठीक वैसे ही जिसके संयोग से अनित्य उपलब्धृत्व (श्रोत्रादि में) है, वह श्रोत्रादि का करण कहलाता है। जल के दाहकत्व के समान श्रोत्रादि में उपलब्धृत्व अनित्य ही है। अग्नि में नित्य उष्णता के समान जिसमें नित्य उपलब्धृत्व है, वह नित्य उपलब्धृत्व स्वरूप होने के कारण उपलब्धा कहा जाता है। श्रोत्रादि में श्रोतृत्वादि उपलब्धृत्व आत्मा के निमित्त से होने के कारण अनित्य है और आत्मा नित्य है। अतः **"श्रोत्रस्य श्रोत्रम्"** इत्यादि अक्षरों के अर्थ के अनुगम

---

१. ननु पितुः पितृत्वस्य पुत्रनिमित्तकत्वेऽपि न पितुः पितेति पुत्रो व्यपदिश्यत इत्याशङ्क्य "स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत्क्षत्त्रस्य क्षत्त्रं यद्धर्म" इत्यनुरूपं श्रौतं निदर्शनं दर्शयति — यथा क्षत्रस्य क्षत्रमिति। २. लौकिकमपि दृष्टान्तमाचष्टे—यथा वेत्यादिना। ३. उपलब्धृत्वद्वैविध्ये दग्धृत्वद्वैविध्यं दृष्टान्तयितुमाह—उदकस्येव दग्धृत्वमिति। ४. क्षत्रजातिनियामकं कर्मेति—क्षत्त्रधर्मत्वेन व्यपदिश्यमानं "शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनं, दानमीश्वरभावश्चे"त्येवमादिप्रत्यवायभिया क्षत्रियेणानुल्लङ्घ्यं कर्मेत्यर्थः। ५. कथमिति-तर्हीति शेषः। ६. क्रियायां हीति-न हि क्रिया च नाम नित्या चेति संभवि क्रियायाः कारकजन्यत्वनियमादिति भावः। ७. प्रमातुरन्तःकरणावच्छिन्नचितः। यत्संबन्धादिति स्वस्वामित्वादिरूपोऽत्र संबन्धः। ८. असङ्गस्येति—एतेनोपलब्धृत्वप्रयोजकश्रोत्रादिसंगमानर्हत्वं सूचयति। ९. यत्र त्वितीति—अनित्योपलब्धृत्व एव श्रोत्रादिसंगमः प्रयोजको न नित्योपलब्धिरूपत्वस्यैव प्रयोजकत्वादिति भाव इति शेषः। १०. श्रोतृत्वादिरूपेति— श्रोत्रादिजन्यबुद्धिपरिणामरूपेत्यर्थः। ११. इत्युपलब्धृत्वमिति— यथोक्तोपलब्धिमत्त्वात्प्रमातर्यनित्यमुपलब्धृत्वमित्यर्थः।

ऽऽत्मभूतं चेतनमिति प्रसिद्धं तदिह निवर्त्यते। अस्ति किमपि विद्वद्बुद्धिगम्यं सर्वान्तरतमं कूटस्थमजरममृतमभयमजं श्रोत्रादेरपि श्रोत्रादि तत्सामर्थ्यनिमित्तमिति, प्रतिवचनं शब्दार्थश्चोपपद्यत एव। तथा मनसोऽन्तःकरणस्य मनः। न ह्यन्तःकरणमन्तरेण चैतन्यज्योतिषा दीपितं स्वविषयसंकल्पाध्यवसायादिसमर्थं स्यात्। तस्मान्मनसोऽपि मन इति। इह बुद्धिमनसी एकीकृत्य निर्देशो मनस इति। यद्वाचो ह वाचं यच्छब्दो यस्मादर्थे श्रोत्रादिभिः सर्वैः संबध्यते। यस्माच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रम्। यस्मान्मनसो मन इत्येवम्। वाचो ह वाचमिति द्वितीया प्रथमात्वेन विपरिणम्यते। प्राणस्य प्राण इति दर्शनात्। वाचो ह वाचमित्येतदनुरोधेन प्राणस्य प्राणमिति कस्माद्द्वितीयैव न क्रियते। न। बहूनामनुरोधस्य युक्तत्वाद्वाचमित्यस्य वागित्येतावद्वक्तव्यं स उ प्राणस्य प्राण इति शब्दद्वयानुरोधेन। एवं हि बहूनामनुरोधो युक्तः कृतः स्यात्। पृष्टं च वस्तु प्रथमयैव निर्देष्टुं युक्तम्। स यस्त्वया पृष्टः प्राणस्य प्राणाख्यवृत्तिविशेषस्य प्राणस्तत्कृतं

---

[१] यस्मादस्ति श्रोत्रस्य श्रोत्रं तस्माच्छ्रोत्रादावात्मबुद्धिः संत्यक्तव्येति शेषः। प्राणचेष्टा चेतनाधिष्ठान-

---

ही चेतन है। इस भ्रान्त धारणा को यहाँ पर निवृत्त किया जाता है। अतः श्रोत्रादि का भी श्रोत्रादि अर्थात् श्रवण सामर्थ्य का निमित्त कोई श्रोत्रादि से भिन्न पदार्थ है, जो सर्वान्तर, निर्विकार, कूटस्थ, अजन्मा, अजर, अमर और अभयस्वरूप आत्मज्ञानियों की बुद्धि से गम्य है, ऐसा यहाँ पर उत्तर और शब्द का अर्थ समुचित ही है।

वैसे ही अन्तःकरण रूप मन का वह मन है क्योंकि चैतन्य ज्योति के प्रकाश विना अन्तःकरण अपने विषय संकल्प और निश्चय आदि में समर्थ नहीं हो सकता। अतः (उसमें मनन सामर्थ्य का आधान करने वाला तत्त्व) उस मन का भी मन है। यहाँ पर बुद्धि और मन को एक मानकर "**मनसः**" ऐसा निर्देश किया गया है। '**यद्वाचो ह वाचम्**' यहाँ पर '**यत्**' शब्द हेत्वर्थक '**यस्मात्**' अर्थ में आया है, जिसका संबन्ध सभी श्रोत्रादि पदों के साथ है। यथा-क्योंकि वह श्रोत्र का श्रोत्र है, क्योंकि वह मन का मन है इत्यादि। '**वाचो ह वाचम्**' इस पद समुदाय में '**वाचम्**' पद की द्वितीया विभक्ति, प्रथमा विभक्ति के रूप में बदल लेनी चाहिये। ऐसे ही '**प्राणस्य प्राणः**' में देखा जाता है। यदि कहो कि '**वाचो ह वाचम्**' इस प्रयोग के अनुरोध से '**प्राणस्य प्राणः**' के स्थान में '**प्राणस्य प्राणम्**' ऐसी द्वितीया विभक्ति क्यों न कर ली जावे? ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि बहुतों का अनुरोध मानना ही उचित है। अतः '**प्राणस्य प्राणः**' इस पद समुदाय के '**सः**' और '**प्राणः**' इन दोनों पदों के अनुरोध से '**वाचम्**' इस शब्द को ही '**वाक्**' अर्थात् प्रथमान्त पद के रूप में करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने पर बहुतों का अनुरोध मानना युक्त हो जायगा। इसके अतिरिक्त पूछी हुई वस्तु का निर्देश प्रथमा विभक्ति द्वारा ही करना उचित है। तात्पर्य यह है कि जिसके सम्बन्ध में तूने पूछा है, वह प्राण नामक वृत्ति विशेष का प्राण है। उसी के कारण प्राण में प्राणन सामर्थ्य है क्योंकि आत्मा से अनधिष्ठित हुए प्राण में प्राणन

---

१. यस्मादस्तीत्यादिरयं शेषो भाष्ये निमित्तमित्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। यस्मादिति च भाष्ये वक्ष्यमाणो मूलस्थयच्छब्दस्यैवार्थ इति ध्येयम्।

श्रोत्रमित्याद्यक्षराणामर्थानुगमादुपपद्यते निर्विशेषस्योपलब्धिस्वरूपस्याऽऽत्मनो मनआदि-प्रवृत्तिनिमित्तत्वमिति। मनआदिष्वेवं यथोक्तम्। वाचो ह वाचं प्राणस्य प्राण [1]इति विभक्तिद्वयं [2]सर्वत्रैव द्रष्टव्यम्। [3]कथं पृष्टत्वात्स्वरूपनिर्देशः [4]प्रथमयैव च निर्देशः। [5]तस्य च [6] ज्ञेयत्वात्कर्मत्वमिति द्वितीया। अतो वाचो ह वाचं प्राणस्य प्राण [7] इत्यस्मात्सर्वत्रैव विभक्तिद्वयम्। यदेतच्छ्रोत्राद्युपलब्धिनिमित्तं श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिलक्षणं नित्योपलब्धि-स्वरूपं निर्विशेषमात्मतत्त्वं बु [तद्बु] द्ध्वाऽतिमुच्यानवबोधनिमित्ताध्यारोपिताद्बुद्ध्या-

---

मतिदिशति— मनआदिष्वेवमिति। [8] **न्यायसामान्याद्यथोक्तं व्याख्यानं द्रष्टव्यम्। नहि मनसो मनस्त्वं वाचो वाक्त्वं वा स्वातन्त्र्येण संभवति अध्यस्त्वादतोऽधिष्ठानसत्ताप्रकाशाभ्यामेव सत्ताप्रकाशत्वं मनआदेः। तच्चाधिष्ठानं निर्विशेषमेवोपलक्षयितव्यम्। विशेषवत्त्वेऽध्यस्तत्वप्रसङ्गादिति भावः।** [9] **विभक्तिद्वयनिर्देशतात्पर्यमाह—**वाचो हेत्यादिना। **मनआदेः प्रवर्तकः किंस्वभाव इति पृष्टत्वात्स्वरूप-निर्देशः कर्तव्यः। स च प्रथमया। "निर्देशे प्रथमा प्रोक्ता" इति स्मरणादित्यर्थः। अतिमुच्य धीरा इत्युत्तरं वाक्यं साध्याहारं योजयति—**यदेतदित्यादिना। **एतद्बुद्ध्वाऽमृता भवन्तीति संबन्धः।**

को देखते हुए निर्विशेष नित्य उपलब्धृस्वरूप आत्मा को मन आदि की प्रवृत्ति में निमित्त कारण मानना उचित ही है। ऐसा ही मन, वाक् और प्राणादि के संबन्ध में भी समझना चाहिये।

"वाचो ह वाचं प्राणस्य प्राणः" इस प्रकार प्रथमा और द्वितीया दो विभक्ति पिछले सभी पदों में जानना चाहिये क्यों? पूछे हुए स्वरूप का निर्देश प्रथमा विभक्ति से ही किया जाता है, साथ ही ज्ञेय होने के कारण आत्मा में कर्मत्व है। इसीलिये द्वितीया विभक्ति भी ठीक ही है। अतः **"वाचं ह वाचं"** तथा **"प्राणस्य प्राणः"** इस कथनानुसार पिछले सभी पदों में दोनों विभक्तियों के अर्थ का रहना सम्भव हो जाता है।

---

१. इति विभक्तिद्वयमिति—द्वितीया प्रथमा चेत्यर्थः। २. सर्वत्रैवेति—षष्ठ्यनाक्रान्तकरणवाचिश्रोत्रादिसकलशब्देषु प्रकृतश्रुतिगतेष्वित्यर्थः। ३. हेतुमाकाङ्क्षयति—कथमिति। तमाह—पृष्टत्वादिति। ४. प्रथमयैव च निर्देश इति—यस्त्वया पृष्टः सोऽयमीदृगित्येवमिति भावः। ५. तस्य च—पृष्टस्य निर्दिष्टस्य चेत्यर्थः। ६. ज्ञेयत्वादिति—तमेतमेवंविधं जानीहीत्येवं ज्ञानविषयतया वक्तव्यत्वादित्यर्थः। ७. इत्यस्मादिति—इत्येवं वाक्प्राणशब्दाभ्यां विभिन्नविभक्तिनिर्देशाल्लिङ्गादित्यर्थः। न ह्येकस्यार्थस्यैकयैव विधया प्रतिपादने प्रयुज्यमानानां शब्दानां मध्ये विभक्त्यादि वैरूप्यं न्याय्यं भवतीति वाचं प्राण इति विरूपविभक्ति-निर्देशोऽनुपपद्यमानः सारूप्यसंपादनाय सर्वत्र तादृशविभक्तिद्वयविवक्षां गमयतीति भावः। तथा च यत्र द्वितीयैव श्रुता तत्र प्रथमापि योजयितव्या यथा वाचमिति। अत्र यस्त्वया पृष्टः स वाचो ह वाग्भवतीति प्रथमां प्रयुज्य निर्देशाय तं वाचो ह वाचं विजानीहीत्येवं द्वितीया प्रयोक्तव्या यत्र च प्रथमैव श्रुता यथा प्राण इति तत्र द्वितीयापि योज्या यत्र तु क्लैब्याद्विभक्तिसारूप्यं यथा श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादौ तत्र तु तन्त्रेण विभक्तिद्वयबोधसुकर एवेत्यलम्। ८. न्यायसामान्यादिति—जडत्वादियुक्तेस्तुल्य-त्वादित्यर्थः। ९. विभक्तिद्वयेति—वाचमिति द्वितीयानिर्देशः प्राण इति प्रथमानिर्देशस्तयोस्तात्पर्यं सर्वत्र तद्विवक्षितमितीत्यर्थः।

हि प्राणस्य प्राणन्सामर्थ्यम्। न ह्यात्मनाऽनधिष्ठितस्य प्राणनमुपपद्यते। "को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" "ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति" इत्यादिश्रुतिभ्यः। इहापि च वक्ष्यते— "येन प्राणः प्रणीयते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि" इति। श्रोत्रादीन्द्रियप्रस्तावे [१]घ्राणप्राणस्य ननु युक्तं ग्रहणम्। सत्यमेवं [२] प्राणग्रहणेनैव तु घ्राणप्राणस्य ग्रहणं कृतम्। एवं मन्यते श्रुतिः। [३] सर्वस्यैव करणकलापस्य यदर्थप्रयुक्ता प्रवृत्तिस्तद्ब्रह्मेति प्रकरणार्थो [४] विवक्षितः। तथा चक्षुषश्चक्षू रूपप्रकाशकस्य चक्षुषो यद्रूपग्रहणसामर्थ्यं तदात्मचैन्याधिष्ठितस्यैवातश्चक्षुषश्चक्षुः। प्रष्टुः पृष्टस्यार्थस्य ज्ञातुमिष्टत्वाच्छ्रोत्रादेः श्रोत्रादिलक्षणं यथोक्तं ब्रह्म ज्ञात्वेत्यध्याह्रियते। [५]अमृता भवन्तीति फलश्रुतेश्च। ज्ञानाद्ध्यमृतत्वं प्राप्यते। "ज्ञात्वा[६]ऽतिमुच्य" इति

पूर्विकाऽचेतनप्रवृत्तित्वाद्रथादिप्रवृत्तिवदित्यभिप्रेत्याऽऽह— न ह्यात्मनाऽनधिष्ठितस्येति। **ज्ञात्वेति पदाध्याहारे कारणमाह—**प्रष्टुः पृष्टस्यार्थस्येति। सामर्थ्यादिति। [७] **श्रोत्राद्यात्मभावत्यागमन्तरेणा-**

व्यापार सम्भव नहीं है। ऐसा ही 'यदि यह आनन्द स्वरूप आकाश नहीं होता तो कौन जीवित रहता और कौन उच्छ्वास लेता' "यही प्राण को ऊपर ले जाता है और अपान को नीचे की ओर ढकेलता है" इत्यादि श्रुतियों से भी सिद्ध होता है। इसे उपनिषत् में भी आगे कहेंगे "जिससे प्राणन करता है, उसी को तू ब्रह्म जान"।

श्रोत्रादि इन्द्रियों के प्रसंग में प्राण शब्द से घ्राण का ही ग्रहण करना उचित जान पड़ता है न कि प्राण का। यह बात ठीक है किन्तु प्राण शब्द से प्राण के ग्रहण कर लेने पर घ्राण का भी ग्रहण कर लिया गया, ऐसा श्रुति मानती है जिसके लिये सम्पूर्ण इन्द्रिय समुदाय की प्रवृत्ति है, वही ब्रह्म है; ऐसा इस प्रकरण का अर्थ बतलाना इष्ट है तथा ब्रह्म चक्षु का चक्षु है अर्थात् रूप को प्रकाशित करने वाले नेत्र इन्द्रिय में जो रूप ग्रहण सामर्थ्य है, वह सामर्थ्य आत्मचैतन्य से अधिष्ठित होने पर ही नेत्र में है। इसीलिये नेत्र के अधिष्ठाता चैतन्य को चक्षु का चक्षु कहा है। पूछने वाले को अपने पूछे हुए पदार्थ को जानने की इच्छा होने के कारण एवं 'अमर हो जाते हैं'; ऐसी फल श्रुति होने के कारण भी पूर्वोक्त श्रोत्रादि के श्रोत्रादि रूप ब्रह्म को जानकर (अमरत्व प्राप्त होता है, ऐसा अर्थ करने के लिये) यहाँ

---

१. घ्राणप्राणस्य—घ्राणात्मकप्राणस्य। २. प्राणग्रहणेनैवेति—घ्राणव्यापारस्य गन्धोपादानलक्षणस्यापानात्मकप्राणव्यापाराधीनत्वादिति भावः। ३. श्रुतेरेवं मननं तु कुतोऽवगतं तत्राह—सर्वस्यैवेत्यादि। इन्द्रियमात्रोक्तौ हि प्राणव्यापारोऽनन्यशेष आपद्येतेति भावः। ४. विवक्षित इति—अत्र च केनेषितमित्याद्युपक्रमस्थप्रश्न एव गमक इति भावः। ५. ननु तथा सति जानीहीत्येवाध्याहर्तुं न्याय्यं तत्राह—अमृता भवन्तीति फलश्रुतिश्चेति। ६. अतिमुच्येत्यस्य सामर्थ्यलभ्यमर्थं प्रतीकोपादानपूर्वकमाह—अतिमुच्येति सामर्थ्यादिति। ७. अतिमुच्येत्यस्य हि त्यागसामान्यमर्थस्त्यक्त्वेति तस्य चामृतत्वं प्रति हेतुत्वं क्त्वाप्रत्ययादवगम्यते। तत्र यस्य त्यागस्य हेतुत्वमुपपद्यते स सामर्थ्याल्लभ्यत इत्याशयेनाह—श्रोत्रादीति। एवं ज्ञात्वाऽतिमुच्येत्यनेन ज्ञानस्य त्यागं प्रति हेतुत्वं प्रतीयते। तत्र त्यागं प्रति ज्ञानस्य साक्षाद्धेतुत्वं संभवति स एव सामर्थ्यलभ्य इत्यपि वक्तव्यम्।

दिलक्षणात्संसारान्मोक्षणं कृत्वा धीरा धीमन्तः प्रेत्यास्माल्लोकाच्छरीरात्प्रेत्य वियुज्या-[1]न्यस्मिन्न[2]प्रतिसंधीयमाने [3]निर्निमित्तत्वादमृता भवन्ति। सति ह्यज्ञाने कर्माणि शरीरान्तरं [4]प्रतिसंदधत आत्मावबोधे तु सर्वकर्मारम्भनिमित्ताज्ञानविपरीतविद्याग्नि-विप्लुष्टत्वात्कर्मणामित्यनारम्भेऽमृता एव भवन्ति। शरीरादिसंतानाविच्छेदप्रतिसंधा-नाद्यपेक्षयाऽध्यारोपितमृत्युवियोगात्पूर्वमप्यमृताः सन्तो नित्यात्मस्वरूपत्वादमृता भवन्ती-त्युपचर्यते ।।२।।

न तत्र चक्षुर्गच्छतीत्युक्तेऽपि पर्यनुयोगे हेतुरप्रतिपत्तेः। श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्येव-

---

तादात्म्येनाध्यारोपितो यो बुद्ध्यादिरनवबोधनिमित्तः संसारस्ततो मोक्षणं तादात्म्याध्यासनिवृत्तिर्दृष्टं फलम्। अमृता भवन्तीति विदेहमुक्तिरदृष्टं फलमित्यर्थः। कर्मणां संबन्धानुपपत्तिरिति शेषः। निमित्ताभावाच्छरीरान्तराद्यनारम्भेऽमृता भवन्तीति प्रयोगादागन्तुकत्वममृतत्वस्येतिशङ्कानिवृ-त्त्यर्थमाह— शरीरादीति। अनादिभवपरम्परया शरीर्यासं परस्ताच्च भविष्यामीति शरीरादिसंताना-विच्छेदस्य प्रतिसंधानं धर्माद्यधिकारित्वाध्यासः कामादिदोषकल्पनं चैतस्मादध्यारोपितो यो मृत्युस्तद्वि-योगापेक्षयाऽमृतत्वस्य भवनमौपचारिकमित्यर्थः ।।२।।

न तत्र चक्षुर्गच्छतीतिवाक्यार्थं [5]संगृह्णाति आचार्येणोक्तेऽपि तत्त्वे शिष्यस्याप्रतिपत्तेर्हेतोः पर्यनुयोगे हेतुर्न तत्र चक्षु[6]र्गच्छतीति। एतद्विवृणोति— श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिना। आत्मा नेन्द्रिय-

---

यह जो श्रोत्रादि की उपलब्धि का निमित्त है जिसे **"श्रोत्रस्य श्रोत्रम्"** इत्यादि लक्षणों वाला कहा गया है; वह नित्य उपलब्धि स्वरूप नित्य, निर्विशेष आत्मतत्त्व ही तो है। उसे जानकर अज्ञान के कारण आरोपित बुद्ध्यादि लक्षण वाले संसार से मुक्त होकर बुद्धिमान् पुरुष इस शरीररूप लोक से पृथक् होकर दूसरे शरीर का अनुसन्धान न करने के कारण अमर हो जाते हैं, क्योंकि अन्य शरीर अनुसन्धान का कोई प्रयोजन नहीं रह गया है।

अज्ञान के रहने पर ही कर्म दूसरे भावी शरीर की खोज किया करते हैं। आत्मज्ञान हो जाने पर सम्पूर्ण कर्मों के आरम्भ के निमित्त अज्ञान का उसके विपरीत ज्ञानाग्नि द्वारा दाह हो जाने के कारण एवं प्रारब्ध कर्म का भोग निःशेष हो जाने के कारण अमर हो जाते ही हैं। यद्यपि पुनः-पुनः शरीर प्राप्तिरूप परम्परा का नाश न हो; ऐसा चिन्तन करते रहने के कारण अपने ऊपर आरोपित अज्ञानजनित मृत्यु का वियोग होने से पूर्व ही आत्मा नित्य स्वरूप होने से अमर ही थे, तथापि अमर होते हैं, यह कथन औपचारिक है ।।२।।

"श्रोत्रस्य श्रोत्रम्" इत्यादि वाक्य द्वारा आचार्य ने तत्त्व का निरूपण कर दिया, फिर भी न

---

१. अन्यस्मिन्निति—शरीर इति शेषः। २. अप्रतिसंधीयमाने—अनारभ्यमाण इत्यर्थः। ३. निर्निमित्तत्वादिति—निमित्ताभावादिति यावत्। ४. प्रतिसंदधत इति—संयोजयन्ति आरभन्त इति यावत्। ५. संगृह्णाति—इत्यनन्तरमपेक्षितो न तत्रेति प्रतीकः स्खलितः प्रतिभाति। ६. गच्छतीति—अर्थ इति शेषः। यद्वा गच्छतीत्येवं वाक्यार्थं संगृह्णाति न तत्र चक्षुर्गच्छतीति इत्येवं योज्यं तदा च भङ्ग्यन्तरेण प्रतीकादानमपि सम्पद्यते। शिष्यस्याप्रतिपत्तेर्हेतोराचार्योक्ततत्त्वविषयके अप्रतिपत्तिप्रयुक्ते पर्यनुयोगे न तत्र चक्षुर्गच्छतीत्यादिनोक्तं दुर्विज्ञेयत्वमप्रतिपत्तिप्रयोजकतया हेतुरित्यर्थः।

सामर्थ्याच्छ्रोत्रादिकरणकलापमुज्झित्वा। श्रोत्रादौ ह्यात्मभावं कृत्वा तदुपाधिः संस्तदात्मना जायते म्रियते संसरति च। अतः श्रोत्रादेः श्रोत्रादिलक्षणं ब्रह्माऽऽत्मेति विदित्वाऽतिमुच्य श्रोत्राद्यात्मभावं परित्यज्य ये श्रोत्राद्यात्मभावं परित्यजन्ति ते धीरा धीमन्तः। न हि विशिष्टधीमत्त्वमन्तरेण श्रोत्राद्यात्मभावः शक्यः परित्यक्तुम्। प्रेत्य व्यावृत्यास्माल्लोकात्पुत्रमित्रकलत्रबन्धुषु ममाहंभावसंव्यवहारलक्षणात्त्यक्तसर्वैषणा भूत्वेत्यर्थः। अमृता अमरणधर्माणो भवन्ति। "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागनैके अमृतत्वमानशुः" "पराञ्चि खानि व्यतृणत्" "आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते" "अत्र ब्रह्म समश्नुते" इत्यादिश्रुतिभ्यः। अथवाऽतिमुच्येत्यनेनैवैषणा-त्यागस्य सिद्धत्वादस्माल्लोकात्प्रेत्यास्माच्छरीरात्प्रेत्य मृत्वेत्यर्थः ।।२।।

मृतत्वासंभवाज्ज्ञानबलाच्छ्रोत्राद्यात्मभावं त्यक्त्वाऽमृता भवन्तीति संबन्धः। एतत्स्फुटयति— श्रोत्रादौ हीत्यादिना। मृत्वेति। विदेहमुक्तिर्विवक्षिता प्रारब्धभोगक्षये शरीरान्तरोत्पादे कारणाभावादवश्यं-भाविनी विदुषो मुक्तिरित्यर्थः।

पर 'ज्ञात्वा' क्रिया का अध्याहार किया जाता है क्योंकि अमरत्व ज्ञान से ही प्राप्त होता है। ऐसा ही "ब्रह्म को जानकर मुक्त हो जाता है" इस कथन सामर्थ्य से सिद्ध होता है अर्थात् ब्रह्म को जानकर श्रोत्रादि करण-कलाप में आत्मभाव का परित्याग ही मोक्ष है। इसके विपरीत श्रोत्रादि में आत्मभाव करके उन उपाधियों से युक्त हुआ जन्मता, मरता और संसार को प्राप्त होता है। अतः श्रोत्रादि के श्रोत्रादि रूप ब्रह्म को यही क्योंकि मैं हूँ; ऐसा जान कर जो श्रोत्रादि में आत्मभाव का परित्याग कर देते हैं, वे बुद्धिमान् वीर पुरुष हैं, विशिष्ट बुद्धि के विना श्रोत्रादि में आत्मभाव का परित्याग शक्य नहीं एवं ब्रह्मात्मदर्शी पुरुष श्रोत्रादि में आत्मभाव परित्याग करने वाला, पुत्र, मित्र, कलत्र, बन्धु, बान्धव में अहंता-ममता के व्यवहार रूप इस लोक से ऊपर उठ कर सम्पूर्ण एषणाओं से मुक्त हो, अमरधर्मा हो जाते हैं।

"कर्म, प्रजा या धन से नहीं किन्तु कुछ एक पुरुषों ने त्याग से ही अमरत्व प्राप्त किया है" "परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाकर हिंसित कर दिया है, इसीलिये जीव बाह्य पदार्थों को ही देखता है, अन्तरात्मा को नहीं देखता। कोई अमरत्वाकांक्षी बुद्धिमान् पुरुष ही इन्द्रियों की बहिर्मुखता को रोककर अपनी अन्तरात्मा को देखता है।" "जिस समय इसके हृदय में स्थित सभी भोग-लालसाएँ छूट जाती हैं .... इसी अवस्था में ब्रह्म को प्राप्त करता है" इत्यादि श्रुतियों से भी पूर्वोक्त अर्थ सिद्ध हो जाता है। अतः **"अस्माल्लोकात्प्रेत्य"** इसका भावार्थ ऐसा समझना चाहिये—इस शरीर से पृथक् होकर अर्थात् मर कर वे जीवन्मुक्त पुरुष विदेह कैवल्य को प्राप्त करते हैं ।।२।।

मादिनोक्तेऽप्यात्मतत्त्वेऽप्रतिपन्नत्वात्सूक्ष्मत्वहेतोर्वस्तुनः [१] पुनः पुनः पर्यनुयुयुक्षा-कारण[२]माह-न तत्र चक्षुर्गच्छतीति। तत्र श्रोत्राद्यात्मभूते चक्षुरादीनि वाक्चक्षुषोः सर्वेन्द्रियोपलक्षणार्थत्वान्न विज्ञानमुत्पादयन्ति। सुखादिवत्तर्हि गृह्येतान्तःकरणेनात आह-नो मनः। न सुखादिवन्मनसो विषयस्तत्। इन्द्रियाविषयत्वात्। न विद्मो न विजातीमोऽन्तःकरणेन यथैतद्ब्रह्म मनआदिकरणजातमनुशिष्यादनुशासनं कुर्यात्प्रवृत्ति-निमित्तं भवेत्तथाऽविषयत्वान्न विद्मो न विजानीमः। अथवा श्रोत्रादीनां श्रोत्रादिलक्षणं ब्रह्म विशेषेण दर्शयेत्युक्त आचार्य आह न शक्यते दर्शयितुं कस्मान्न तत्र चक्षुर्गच्छती-त्यादि पूर्ववत्सर्वमत्र तु विशेषो यथैतदनुशिष्यादिति। यथैतदनुशिष्यात्प्रतिपादयेत्।

विषयोऽभौतिकत्वान्नरविषाणवत्। मनश्चेन्द्रियं प्रसिद्धं ततस्तस्याप्यविषय इत्याह— इन्द्रियाविषयत्वा-दिति। **न विद्मो न विजानीम इत्याद्यभ्यासः [३]सर्वथाऽन्तःकरणाविषयत्वख्यापनार्थः।आक्षेपपरतया व्याख्याय शङ्कोत्तरत्वेन व्याचष्टे—** अथवेत्यादिना। **इत उपलक्षणप्रकारादन्येन प्रकारेण न शक्यते**

समझने के कारण शिष्य के पुनः प्रश्न करने में यह हेतु है कि वहाँ पर नित्य इन्द्रियाँ नहीं जाती। आत्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण समझ में न आने से शिष्य को पुनः प्रश्न करने की इच्छा होने में जो कारण हैं, उसे **"न तत्र चक्षुर्गच्छति"** इत्यादि श्रुति से बतलाया है। श्रोत्रादि के आत्मस्वरूप उस ब्रह्मतत्त्व में नेत्रादि इन्द्रियाँ विज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकती हैं।यहाँ पर वाक् और चक्षु सभी इन्द्रियों के उपलक्षण हैं, फिर तो सुखादि के समान उस ब्रह्म का ग्रहण अन्तःकरण से हो ही सकता है। इस पर कहते हैं, मन भी वहाँ तक नहीं पहुँचता अर्थात् वह ब्रह्मतत्त्व सुखादि के समान मन का भी विषय नहीं है, क्योंकि वह इन्द्रियों का अविषय है।

यह ब्रह्म मन आदि इन्द्रिय समुदाय पर जिस प्रकार अनुशासन करता है अर्थात् इन्द्रियों में प्रवृत्ति जिस प्रकार कराता है, उसे इन्द्रियों का अविषय होने के कारण अन्तःकरण से हम सामान्य या विशेष रूप से कुछ भी नहीं जानते अथवा यों समझो कि शिष्य के "श्रोत्रादि के श्रोत्रादि ब्रह्म को विशेष रूप से दिखलाओ" ऐसा कहने पर आचार्य कहते हैं कि उसे दिखलाया नहीं जा सकता है क्योंकि उसमें नेत्र नहीं पहुंचता है इत्यादि प्रकार से सबको पहले की भाँति जानना चाहिये। इस व्याख्यान में **"यथैतदनुशिष्यात्"** इस वाक्य का विशेष तात्पर्य है कि जिस किसी अन्य विधि से अन्य आचार्य शिष्यों

---

१. पुनः पुनः पर्यनुयुयुक्षाकारणमाहेति—शिष्यवर्गमुखेन वेद इति शेषः। पर्यनुयुयुक्षायाः पौनःपुन्यं पर्यनुयोगस्य पौनःपुन्यादुन्नेयम्। पर्यनुयोगो ह्याक्षेपस्तत्पौनःपुन्यं चात्र न विद्मो न विजानीम इति। अनेन हि निर्विशेषं वस्तु श्रोत्रादीनां प्रवर्तत्कमित्युक्तमाक्षिप्यते यतस्तत्र चक्षुरादि न गच्छत्यतो मनआदिप्रवर्तकत्वेन चक्षुरादिनाऽगृह्यमाणत्वान्निर्विशेषं श्रोत्रादिप्रवर्तकमित्येतद्द्वयं न विद्मो न विजानीम इति। नैतत्संभवतीति यावत्। यद्वा पर्यनुयुयुक्षाकारणमाहेत्यस्याचार्य एव शिष्यस्य पर्यनुयुयुक्षाकारणमात्मन इन्द्रियाग्राह्यत्वमाहेत्यर्थः। तथा च न तत्रेत्यादिनाऽऽचार्य एव निर्विशेषस्य पूर्वमुक्तमिन्द्रियप्रेरकत्वमवस्तुत्वादाक्षिपतीति गम्यते। २. सूक्ष्मत्व-हेतोरात्मवस्तुनोऽप्रतिपन्नत्वादुक्तेप्यात्मतत्त्वे या पुनः पुनः पर्यनुयुयुक्षा तस्याः कारणं दुर्विज्ञेयत्वमाहेत्यर्थः। ३. सर्वथेति—प्रेरकत्वादिना केनापि रूपेणेति यावत्।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वागगच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ।।३।।

वहाँ (सर्वप्रेरक सर्वाधिष्ठान ब्रह्म में) नेत्र इन्द्रियाँ नहीं जाती और मन (भी) नहीं जाता। अतः जैसे शिष्य को इस (निरुपाधिक ब्रह्म) का उपेदश करना चाहिये, उसे हम नहीं जानते (और सामान्य या विशेष रूप से भी) हम उसे नहीं समझते। वह विदित वस्तु से अन्य ही है तथा अविदित (अज्ञान) से भी परे है, ऐसा हमने पूर्व पुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उस (निरुपाधिक चैतन्य ब्रह्म) का व्याख्यान किया था ।।३।।

यस्माच्छ्रोत्रादेरपि श्रोत्राद्यात्मभूतं ब्रह्मातो न तत्र तस्मिन्ब्रह्मणि चक्षुर्गच्छति। स्वात्मनि गमनासंभवात्। तथा न वाग्गच्छति। [१]वाचा हि शब्द उच्चार्यमाणोऽभिधेयं प्रकाशयति यदा तदाऽभिधेयं प्रति वाग्गच्छतीत्युच्यते। तस्य च शब्दस्य तन्निर्वर्तकस्य च करणस्याऽऽत्मा ब्रह्मातो न वाग्गच्छति।

सर्पाद्यध्यासाधिष्ठानरज्जुवच्छ्रोत्राद्यध्यासाधिष्ठानचैतन्यं श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिना लक्षितं तर्हि रज्जुवदधिष्ठानत्वाद्विषयत्वप्रसङ्ग इति शङ्कां निवर्तयति— यस्माच्छ्रोत्रादेरपीत्यादिना। [२] **अध्यस्तस्य ह्यधिष्ठानमेव स्वरूपमाद्यन्तमध्येषु तदव्यभिचारात्स्वरूपविषयता च न पदार्थधर्मस्ततोऽ[३]प्रयोजकोऽयं**

आत्मा सम्प्रदाय परम्परा से ही जानने योग्य है

क्योंकि ब्रह्म श्रोत्रादि का भी श्रोत्रादि रूप है, इसीलिये उस ब्रह्म में चक्षु इन्द्रिय नहीं जा सकती, अपने में अपने की गति सम्भव भी नहीं और न वाणी ही पहुँच सकती है। जब वाणी से उच्चरित शब्द अपने वाच्य अर्थ को प्रकाशित करता है, उसी समय वाणी अपने वाच्य अर्थ तक पहुँचती है, ऐसा कहा जाता है किन्तु ब्रह्म तो शब्द और उसके सम्पादक इन्द्रिय का आत्मा है। अतः वाणी उस ब्रह्म में वैसे ही नहीं पहुँच पाती जैसे अग्नि दाहक और प्रकाशक होता हुआ भी न अपने को जलाता है, न प्रकाशित ही करता है (इतना ही नहीं) अन्य पदार्थों का संकल्प और निश्चय करने वाला

---

१. ननु चक्षुरादिवद्वागिन्द्रियस्य स्वविषयं प्रति गमनस्याप्रसिद्धेरप्रसक्तप्रतिषेधोऽयं न वाग्गच्छतीतीत्याशङ्क्याऽऽह—वाचा हीत्यादि। २. प्रतिपक्षानुमानं सूचयन्नाह—अध्यस्तस्येत्यादि। ब्रह्म न श्रोत्रादिविषयस्तत्स्वरूपत्वात्तद्वदिति भावः। अत्रानुकूलतर्कमाह-स्वरूपविषयतेति। स्वरूपविषयकत्वे श्रोत्रादीनां पदार्थतैव भज्येतेति भावः। ३. अप्रयोजकोऽयं हेतुरिति— अधिष्ठानत्वादित्ययं हेतुरप्रयोजकोऽनुकूलतर्करहितत्वेन विषयत्वासाधक इत्यर्थः। तदुक्तं—यस्यानुकूलतर्कोऽस्ति स एव स्यात्प्रयोजक इति। न ह्यत्र ब्रह्मणो विषयत्वानभ्युपगमे किञ्चिदनिष्टमस्ति अधिष्ठानत्वस्य स्वयंप्रकाशत्वेनैवोपपन्नत्वादिति भावः।

अन्योऽपि शिष्यानितोऽन्येन विधिनेत्यभिप्रायः। सर्वथाऽपि ब्रह्म बोधयेत्युक्त आचार्य आह, अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीत्यागमम्। विदिताविदिताभ्यामन्यत्वम्। यो हि ज्ञाता [1]स एव सः। [2]सर्वात्मकत्वात्। [3]अतः सर्वात्मनो ज्ञातुर्ज्ञात्रन्तराभावा- द्विदितादन्यत्वम्। "[4]स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता" इति च मन्त्रवर्णात्। "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" इति च वाजसनेयके। अपि च [5]व्यक्तमेव विदितं तस्मादन्यदित्यभिप्रायः। यद्विदितं व्यक्तं तदन्यविषयत्वादल्पं सविरोधं ततोऽनित्यमत

दर्शयितुं क्रियागुणादिविशेषशून्यत्वादित्यर्थः। आगममित्युपदेशपारम्पर्यमाहेति संबन्धः। आगमस्यार्थमाह— विदिताविदिताभ्यामन्यत्वमिति। **अन्यदात्मनो विदितमविदितं वा स्यादतो विदितत्वाविदितत्वनिषेधेनाऽऽत्मनोऽन्यत्र ब्रह्मत्वं [6]विदुषां विनिवर्त्याऽऽत्मा ब्रह्मेत्युपदिष्टं भवतीत्यर्थः। [7]विदितान्यत्वे युक्तिमाह—** योहीत्यादिना। **विदितान्यत्ववचनस्याऽऽर्थिकमर्थमाह—** अपि चेति। **[8]कार्याद्व्यावृत्तिः**

को इसका उपदेश कर सकता है (हम उसे नहीं जानते)। शिष्य ने कहा कि किसी भी प्रकार से ब्रह्म का बोध हमें करावें। इस पर आचार्य कहते हैं—वह ब्रह्म विदित से अन्य है और अविदित से भी परे है अर्थात् विदित और अविदित से भिन्नत्व प्रतिपादक उपदेश की परम्परा है। इसके अतिरिक्त जो (उसको जानता है) वह स्वयं वही तो है क्योंकि ब्रह्म सर्वात्मक है। अतः सबके आत्मस्वरूप उस ज्ञात से भिन्न जानने वाले का अभाव होने के कारण वह विदित पदार्थ से भिन्न है। ऐसा ही "वह सभी वेद्य वस्तु को जानता है, उसका जानने वाला कोई दूसरा नहीं" इस मन्त्र से भी जाना जाता है। 'अरे! उस विज्ञाता को किससे जाने' इस वाजसनेयी श्रुति में भी वैसा ही कहा गया है। इसके अतिरिक्त व्यक्त वस्तु विदित कही जाती है, उससे यह भिन्न है। यह इसका तात्पर्य है कि जो विदित

---

१. स एव स इति—ज्ञातैव ह्यात्मेत्यर्थः। अहमस्मि जानान इति ज्ञातर्येवात्मत्वानुभवस्य सार्वलौकिकत्वादिति भावः। २. नन्वस्तु ज्ञातैवात्मा तथाप्येको ज्ञाताऽऽत्माऽपरेणात्मना ज्ञात्रा ज्ञायेतैवेति सर्वत्रात्मसु ज्ञेयत्वसंभवाद्विदितान्यत्वमसंभवीत्याशङ्क्याऽऽह—सर्वात्मकत्वादिति। सर्वं ज्ञातृजातमात्मा स्वरूपं यस्य तत्त्वात् "एको देवः" "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ" इत्यादिश्रुतिभ्यो ज्ञातुर्भेदाभावान्नोक्तशङ्काऽवतरतीति भावः । ३. उक्तमेव स्फुटयन्नाह—अत इति। आत्मन एव ज्ञातृत्वादनानात्वाच्चेत्यर्थः। अयं चात्र प्रयोगो विवक्षितः। आत्मा विदितान्यो ज्ञातृत्वाद्व्यतिरेकेण घटादिवदिति। यद्वा सर्वमनात्मजातमात्मा स्वरूपमध्यस्तत्वादनतिरिक्तं यस्याधिष्ठानभूतस्य तत्त्वाज्ज्ञातैवात्मेति यथा श्रुत एव हेतुहेतुमद्भावो व्याख्येयः। अध्यस्तजडजातस्याधिष्ठानचिदेकभास्यत्वाज्ज्ञातैवाधिष्ठानभूत आत्मा न ज्ञेय इत्यर्थः। ज्ञातैवात्मा न ज्ञेयः सर्वाधिष्ठानत्वाद्यन्नैवं तन्नैवं यथा घट इति युक्तिरवगन्तव्या। ४. आत्मनो विदितान्यत्वे युक्तिमुक्त्वा श्रुतिमाह—स वेत्तीत्यादिना। ५. व्यक्तमेवेति—अभिव्यक्तनामरूपं कार्यमेवेत्यर्थः ६.अज्ञानामात्मनि ब्रह्मत्वाननुभवादाह —विदुषामिति। विदितवतामात्मनोऽन्यत्र ब्रह्मत्वं नानुभवगोचरमित्येवं विद्वदनुभवे- नात्मनोऽन्यत्र ब्रह्मत्वं विनिवर्त्येत्यर्थः। ७. विदितान्यत्व इति—नन्वन्यदात्मनो विदितमविदतं वा स्यादित्युक्तमसत्। युक्तिवैधुर्यादत आत्मनोऽपि विदितत्वादिसंभवाद्विदिताद्यन्यत्वोक्त्या नात्माग्रहीतुं शक्य इत्याशङ्क्यात्मन इत्यादिः। ८. कार्यादिति-तथा च विदितान्यत्वोक्त्येत्यादिः।

यथाऽग्निर्दाहकः प्रकाशकश्चापि सन्न ह्यात्मानं प्रकाशयति दहति च तद्वत्। नो मनो मनश्चान्यस्य संकल्पयितृध्यवसायितृ च सदात्मानं न संकल्पयत्यध्वस्यति च तस्यापि ब्रह्माऽऽत्मेतीन्द्रियमनोभ्यां हि वस्तुनो विज्ञानं तदगोचरत्वान्न विद्मस्तद्ब्रह्मेदृशमित्यतो न विजानीमो यथा येन प्रकारेणैतद्ब्रह्मानुशिष्यादुपदिशेच्छिष्यायेत्यभिप्रायः। यद्धि करणगोचरं तदन्यस्मा उपदेष्टुं शक्यं जातिगुणक्रियाविशेषणैः। न तज्जात्यादिविशेषणवद्ब्रह्म। तस्माद्विषमं शिष्यानुपदेशेन प्रत्याययितुमिति। उपदेशे तदर्थग्रहणे च यत्नातिशयकर्तव्यतां दर्शयति—न विद्म इत्यादि। अत्यन्तमेवोपदेशप्रकारप्रत्याख्याने प्राप्ते तदपवादोऽयमुच्यते। सत्यमेवं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैर्न परः प्रत्याययितुं शक्यः। आगमेन तु शक्यत एवं प्रत्याययितुम्। तदुपदेशार्थमागममाह—अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीति। अन्यदेव पृथगेव तद्यत्प्रकृतं श्रोत्रादीनां श्रोत्रादीत्युक्त-

---

हेतुरित्यर्थः। अविषयत्वात्तर्हि शास्त्राचार्योपदेश्यत्वमपि न स्यादित्याशङ्क्य नास्त्येव वास्तवमित्याह— इन्द्रियमनोभ्यां हीति। ब्राह्मणोऽयमित्यादि जातितः कृष्णोऽयमित्यादि गुणतः पाचकोऽयमित्यादि क्रियातो राजपुरुष इत्यादि संबन्धविशेषणत उपदिश्यते । ब्रह्म तु न जात्यादिमत्। "केवलो निर्गुणश्च" इत्यादिश्रुतेः। अज्ञेनाऽऽगमस्य भेदेन प्रतिपन्नत्वात्तद्दृष्ट्याऽऽचार्यस्याप्यविद्यालेशोत्थदृष्ट्या व्यावहारिक उपदेश उपपद्यत आगमतस्[1]तस्यैवाऽऽत्मा [नं] ब्रह्मरूपेण लक्षयितुं [2]योग्यतातिशयवत्त्वादित्यभिप्रेत्याऽऽह— अत्यन्तमेवेति। वाक्यस्य पदार्थान्व्याख्याय तात्पर्यं दर्शयितुमुपक्रमते— यद्विदितं

होता हुआ भी मन न आत्मा का संकल्प करता है और न अपना निश्चय ही करता है। इसलिये मन वहाँ तक नहीं जाता क्योंकि ब्रह्म मन का भी आत्मा है। वस्तु का विज्ञान इन्द्रिय और मन से ही होता है। उसका विषय न होने के कारण हम यह नहीं जानते कि वह ब्रह्म ऐसा है। अतः शिष्य के प्रति जिस प्रकार इस ब्रह्म का उपदेश किया जा सके, वह प्रकार हम जानते नहीं; यही उसका तात्पर्य है। जो वस्तु इन्द्रियों का विषय हो उसी का उपदेश जाति, गुण एवं क्रिया रूप विशेषणों द्वारा दूसरे को किया जा सकता है। ब्रह्म उन जाति आदि विशेषणों से युक्त नहीं है। अतः उपदेश द्वारा शिष्यों को बोध कराना अत्यन्त दुष्कर है। ऐसा कहकर श्रुति उपदेश और उसके अर्थ ग्रहण में अत्यधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता दिखला रही है।

उपर्युक्त श्रुति में **"न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्"** इस वाक्य से उपदेश के प्रकार का अत्यन्त निषेध हो जाने पर उसका अपवाद यह कहा जाता है। यह ठीक है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परतत्त्व का बोध नहीं कराया जा सकता किन्तु आगम से तो उसका बोध कराया जा ही सकता है। इसीलिये उसके उपदेश के लिये आगम प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। वह ब्रह्म विदित से अन्य ही है और अविदित से भी परे ही है। प्रकरण से प्राप्त श्रोत्रादि का श्रोत्रादि रूप एवं श्रोत्रादि का अविषयभूत जो

---

१. तस्यैव—आगमस्यैवेत्यर्थः। २. योग्यतातिशयवत्त्वादिति—प्राणादिचेष्टा चेतनाधिष्ठानपूर्विकेत्याद्यनुमानं लक्षयदप्यात्मानं न ब्रह्मत्वेन लक्षयितुमलमागमस्तु तथेति तस्य योग्यतातिशयवत्त्वमिति भावः। तथाविधशब्दघटितत्वमेव च तत्त्वमिति ध्येयम्।

एवानेकत्वादशुद्धमत एव [1]तद्विलक्षणं ब्रह्मेति सिद्धम्। अस्तु तर्ह्यविदितम्। न विज्ञानानपेक्षत्वात्। यद्ध्यविदितं तद्विज्ञानापेक्षमविदितविज्ञानाय हि लोकप्रवृतिः। इदं तु विज्ञानानपेक्षं कस्मा[2]द्विज्ञानस्वरूपत्वात्। न हि यस्य यत्स्वरूपं तत्तेनान्यतोऽपेक्ष्यते। न च स्वत एवापेक्षा। [3]अनपेक्षमेव सिद्धत्वात्। न हि प्रदीपः स्वरूपाभिव्यक्तौ प्रकाशान्तरमन्यतोऽपेक्षते स्वतो वा [4]यद्ध्यनपेक्षं तत्स्वत एव सिद्धम्। प्रकाशात्मकत्वात्प्रदीपस्या[5]पेक्षितोऽप्यनर्थकःस्यात्। [6]प्रकाशे विशेषाभावात्। [7]नहि प्रदीपस्य स्वरूपा-

---

सिध्यतीत्यर्थः। आत्मा यद्यप्यन्यतो विज्ञानं नापेक्षते तथाऽपि स्वग्राहकत्वात्स्वस्मादेव विज्ञानमपेक्षते तेन विज्ञानानपेक्षत्वमसिद्धमित्याशङ्क्याऽऽह— न च स्वत एवेति। [8]स्वभावतयाऽनपेक्षमेव सिद्धत्वा[9]दपेक्षाशब्दार्थो न घटते स्वग्राहकत्वं चासिद्धं [10]स्ववृत्तिविरोधादित्यर्थः। विज्ञानं सजातीयानपेक्षप्रकाशं प्रकाशत्वात्प्रदीपवदित्यनुमानमभिप्रेत्य दृष्टान्तमाह— नहीति। [11]तमोध्वस्तये ह्यालोकापेक्षा तदभावश्चाऽऽलोके स्वत एव सिद्ध इत्यर्थः। प्रदीपस्य तैजसस्य तैजसान्तरानपेक्षत्वेऽपि विजातीयप्रकाशस्य

व्यक्त वस्तु वह किसी दूसरे का विषय होने के कारण परिच्छिन्न और सविरोध होता है, इसलिये अनित्य होता है। अतः अनेक होने के कारण वह अशुद्ध भी होता है किन्तु ब्रह्म उससे भिन्न है, ऐसा सिद्ध हुआ।

शंका :— तब तो ब्रह्म अज्ञात हुआ?

समाधान :— नहीं, ऐसी बात नहीं है क्योंकि उसे विज्ञान की अपेक्षा नहीं है। जो वस्तु अज्ञात होती है, उसके विज्ञान की अपेक्षा हुआ करती है। लोगों की प्रवृत्ति अज्ञात वस्तु को जानने के लिये देखी जाती है, परब्रह्म को अपने विज्ञान की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि वह विज्ञान स्वरूप ही है। जो जिसका स्वरूप होता है, उसके लिये वह दूसरे की अपेक्षा नहीं करता। अपने से तो अपेक्षा होती ही नहीं है क्योंकि वह सदा प्राप्त होने के कारण अपेक्षा से रहित है। दीपक अपने स्वरूप प्रकाश के लिये

---

१. तद्विलक्षणमिति—अनल्पमविरोधं नित्यमेकं शुद्धं चेत्यर्थः। एवमेव पदार्थशोधनं जिज्ञासुना कर्तव्यमिति दर्शितम्। २. विज्ञानस्वरूपत्वादिति—सत्यं ज्ञानमित्यादिश्रुतेरिति भावः। ३. अनपेक्षमेव सिद्धत्वादिति—अपेक्षां विनैव संपन्नत्वादित्यर्थः। ४. एवं स्वतः परतो वाऽनपेक्षत्वे अनपेक्षमेव सिद्धत्वादित्युक्तं स्वतःसिद्धत्वमेव पर्यवस्यतीत्याह—यद्धीति। ५. ननु स्वरूपाभिव्यक्तौ स्वरूपं तावदपेक्ष्यत एवान्तरेण तु स्वरूपं कस्याभिव्यक्तिः स्यादिति प्रदीपस्य स्वरूपं च प्रकाश एव ततः प्रदीपस्य स्वरूपाभिव्यक्तवागतैव प्रकाशापेक्षेत्यत आह—अपेक्षितोऽपीति। सत्यमेवं स्वरूपत्वाद्विशेषणविधयाऽपेक्षितोऽपि प्रदीपस्य स्वरूपाभिव्यक्तौ प्रकाशः प्रकाशत्वेनानर्थक एव स तथात्वेनानपेक्षणादिति भावः। ६. तमोध्वस्तय एव हि प्रकाशत्वेन प्रकाशोऽपेक्ष्यत इत्याशयेनाह—प्रकाशे चेति। अपेक्ष्यवदपेक्षितुस्तमो विरोधित्वेन तमस्त्वित्वाभावादिति भावः। ७. उक्तमेव स्फुटयति—नहीति। ८. स्वभावतयेति—स्वरूपत्वेनेत्यर्थः। ९. अपेक्षाशब्दार्थो हि लिप्सा सा चालब्ध एव न लब्धे भवतीत्यभिप्रेत्याह—अपेक्षाशब्दार्थो न घटत इति। १०. स्ववृत्तिविरोधादिति—स्वस्मिन् स्वव्यापारे एकस्मिन् विरुद्धकर्मत्वकर्तृत्वप्रसङ्गादिति यावत्। ११. न हि प्रदीपस्य स्वरूपाभिव्यक्तौ प्रदीपप्रकाशोऽर्थवानित्येतद्भाष्यं व्याचष्टे —तमोध्वस्तय इत्यादिवाक्येन।

मविषयं च तेषाम्, तद्विदितादन्यदेव हि विदितं नाम यद्विदिक्रिययाऽतिशयेनाऽऽप्तं तद्विदिक्रियाकर्मभूतं क्वचित्किंचित्कस्यचिद्विदितं स्यादिति सर्वमेव व्याकृतं तद्विदितमेव तत्तस्मादन्यदित्यर्थः। अविदितमज्ञातं तर्हीति प्राप्त आह–अथो अविदिताद्विदितविपरीतादव्याकृतादविद्यालक्षणादव्याकृतबीजात्। अधीत्युपर्यर्थे लक्षणयाऽन्यदित्यर्थः। यद्धि यस्मादध्युपरि भवति तत्तस्मादन्यदिति प्रसिद्धं यद्विदितं तदल्पं मर्त्यं दुःखात्मकं चेति हेयम्। [1]तस्माद्विदितादन्यद्ब्रह्मे[2]त्युक्ते त्वहेयत्वमुक्तं स्यात्। तथाऽविदितादधीत्युक्तेऽनुपादेयत्वमुक्तं स्यात्। [3]कार्यार्थं हि कारणमन्यदन्येनोपादीयतेऽ[4]तश्च न वेदितुरन्यस्मै प्रयोजनायान्यदुपादेयं भवती[5]त्येवं विदिताविदिताभ्यामन्यदिति

तदल्पमित्यादिना। यद्वेदितुरन्यत्तद्विदितमविदितं चेति द्वयी गतिः। ततो विदितत्वाविदित्वनिषेधेन

ब्रह्म कहा गया है, वह विदित से पृथक् ही है। वेदन क्रिया की कर्मरूप नाम-रूपात्मक जो कुछ भी वस्तु कहीं भी है, वह किसी न किसी को विदित है; उसी को विदित शब्द से कहा गया है। अतः सम्पूर्ण व्याकृत नाम-रूपात्मक वस्तु ज्ञात ही है। उस विदित वस्तु से ब्रह्म अन्य ही है, यह इसका अभिप्राय है। तब तो ब्रह्म अज्ञात है ऐसा प्रसंग आने पर कहते हैं। वह विदित से विपरीत व्याकृत पदार्थों के बीजरूप अविद्यात्मक अव्याकृत से भी अन्य ही है। यों तो **'अधि'** शब्द का वाच्य अर्थ ऊपर होता है, किन्तु लक्षण से इसका अर्थ अन्य करना चाहिये, क्योंकि जो वस्तु जिससे ऊपर होती है, वह उससे भिन्न ही होती है, यह बात प्रसिद्ध है।

जो वस्तु विदित होती है, वह परिच्छिन्न, नाशवान् एवं दुःखरूप होती है। इसीलिये वह त्याज्य है। ब्रह्म उस ज्ञात वस्तु से भिन्न है, ऐसा कहने पर उसमें अहेयत्व कह दिया गया। वैसे ही वह अविदित से भी भिन्न है, ऐसा कह कर उस ब्रह्म में अनुपादेयत्व बतला दिया गया। किसी कार्य की सिद्धि के लिये ही किसी अन्य पुरुष द्वारा उसके साधन को ग्रहण किया जाता है। अतः सबके प्रकाशक आत्मा को किसी अन्य प्रयोजन सिद्धि के लिये अन्य साधन का उपादान करना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार विदित और अविदित दोनों से ब्रह्म भिन्न है, ऐसा कह कर ब्रह्म में हेयत्व और उपादेयत्व का निषेध कर दिया गया। तात्पर्य यह है कि वह ज्ञेय वस्तु अपनी आत्मा से अभिन्न है, ऐसा सिद्ध हो जाने के कारण शिष्य की ब्रह्मविषयक जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है, क्योंकि आत्मा से भिन्न वस्तु विदित और अविदित से पृथक् नहीं कही जा सकती। अतः विदित और अविदित से भिन्न होने के

---

१. तस्मात्–विदितस्य अल्पादिरूपत्वादित्यर्थः। २. इत्युक्त इत्यादि–इत्युक्तत्वादहेयत्वमुक्तं भवतीति यावत्। एवमग्रेऽपि। ३. अविदितस्योपादेयत्वमुपपादयति– कार्यार्थं हीत्यादिना। ४. अतश्चेत्यादि–अविदितादधीत्यनेन ब्रह्मण्युपादेयत्वनिषेधात्तु वेदितुरात्मनः स्वतोऽन्यस्मै कस्मैचित्प्रयोजनाय स्वतोऽन्यत्तद्ब्रह्म नोपादेयं भवतीत्यर्थः ५. विदितत्वादिनिषेधमुखेन ब्रह्मोपदेशस्य फलं शिष्यस्य स्वात्मन्येव ब्रह्मत्वबोधरूपं दर्शयति–इत्येवमित्यादिना।

भिव्यक्तौ प्रदीपप्रकाशोऽर्थवान्। न चैवमात्मनोऽन्यत्र विज्ञानमस्ति येन स्वरूपविज्ञानेऽप्यपेक्ष्यते। विरोध इति चेन्नान्यत्वात्। स्वरूपविज्ञाने विज्ञानस्वरूपत्वाद्विज्ञानान्तरं नापेक्षत इत्येतदसत्। दृश्यते हि [१]विपरीतज्ञानमात्मनि सम्यग्ज्ञानं च न जानाम्यात्मानमिति। [२]श्रुतेश्च "तत्त्वमसि" "आत्मानमेवावेत्" "एतं वै तमात्मानं विदित्वा" इति च। सर्वत्र श्रुतिष्वात्मविज्ञाने विज्ञानान्तरापेक्षत्वं दृश्यते तस्मा[३]त्प्रत्यक्षश्रुतिविरोध इति चेन्न। कस्मात्। अन्यो हि स आत्मा बुद्ध्यादिकार्यकरणसंघाताभिमानसंताना-

---

ज्ञानस्यापेक्षा [४]स्वव्यवहारेऽपि दृष्टा तथा ब्रह्मणोऽपि विजातीयज्ञानापेक्षा भविष्यतीति न च वाच्यमित्याह— न चैवमात्मन इति। **ब्रह्मणोऽन्यस्य सर्वस्याज्ञानात्मकत्वाद्धानसंभावनैव नास्त्यन्यत्र ततो न विजातीयज्ञानापेक्षमपि ब्रह्मेत्यर्थः। ज्ञानानपेक्षत्वे लौकिकानुभवविरोधं शास्त्रविरोधं चोद्भाव्य परिहरति—** विरोध इति चेन्नान्यत्वादिति। **सूत्रस्य पूर्वपक्षभागं विभजते—** स्वरूपविज्ञान इत्यादिना। **विज्ञानानपेक्षत्वं ब्रह्मणोऽभाणि। सापेक्षत्वं जीवशब्दवाच्यस्योपाधिविशिष्टस्यानुभूयतेऽतो भिन्नविषयत्वान्न विरोध इत्याह—** न कस्मादित्यादिना। **[५]बुद्ध्यादौ कार्यकरणसंघाते य आत्माभिमान-**

अपने से या अन्य किसी से प्रकाश की अपेक्षा नहीं करता। इस प्रकार अपेक्षा न रखने के कारण वह स्वतः सिद्ध ही है क्योंकि प्रकाश स्वरूप दीपक को अपने स्वरूप प्रकाश के लिये अपेक्षा निष्प्रयोजन ही तो होगी क्योंकि एक प्रकाश में दूसरे प्रकाश से कोई विशेषता नहीं आती। एक दीपक के स्वरूप प्रकाश के लिये दूसरे दीपक का प्रकाश सार्थक नहीं हुआ करता है। इसी प्रकार आत्मा से भिन्न कोई विज्ञान नहीं है जिससे कि उसके स्वरूप अनुभव कराने में उसकी अपेक्षा हो। तब तो इसमें विरोध जान पड़ता है, ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि आत्मा इससे भिन्न है।

शंका :— आपने जो कहा कि आत्मा विज्ञान स्वरूप होने के कारण अपने विज्ञान कराने में किसी दूसरे विज्ञान की अपेक्षा नहीं करता, ऐसा कहना गलत है क्योंकि आत्मा में भी विपरीत ज्ञान और सम्यक् ज्ञान होता देखा जाता है। यथा—"मैं आत्मा को नहीं जानता" इससे अज्ञान एवं "तू वह है" उसने आत्मा को ही जाना" "उस इस आत्मा को निःसन्देह रूप में जानकर" इत्यादि श्रुतियों से सम्यक् ज्ञान सिद्ध होता है। श्रुतियों में सर्वत्र आत्मा के ज्ञान कराने के लिये दूसरे विज्ञान की अपेक्षा देखी जाती है। अतः आपका पूर्वोक्त कथन प्रत्यक्ष श्रुति से विरुद्ध है।

समाधान :— ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि बुद्धि आदि कार्य-करण संघात में अभिमान

---

१. विपरीतज्ञानमिति—ज्ञानाद्विपरीतं विपरीतज्ञानमिति राजदन्तादित्वाद्विपरीतम्। अज्ञानमित्यर्थः। न जानामीति वक्ष्यमाणानुरोधात्। यदि न जानामीत्यस्य ब्रह्मत्वेन न जानामि किन्तु कर्तृत्वादिनैव जानामीत्यर्थस्तदा यथाश्रुतमेव विपरीतज्ञानं सम्यग्ज्ञानं च जानाम्यात्मानमिति अकर्तृब्रह्मत्वेन जानामीति तदर्थः। एवं च यत्र ज्ञानाज्ञाने न तज्ज्ञाननिरपेक्षं ज्ञाननिरपेक्षे कुतो ज्ञानं नित्यचित्प्रकाशतयैव निरपेक्षत्वस्य वाच्यत्वात् कुतश्चाज्ञानमिति भावः। २. लोकानुभवात्मकप्रत्यक्षविरोधमुक्त्वा शास्त्रविरोधमाह—श्रुतेश्चेति। नहि ज्ञाननिरपेक्षे ज्ञानार्थाज्ञानं वदन्ती च श्रुतिरुपपद्येतेति भावः। ३. प्रत्यक्षश्रुतिविरोध इति—प्रत्यक्षेण श्रुत्या च विरोध इत्यर्थः ४. स्वव्यवहारेऽपीत्यपिना तमो ध्वस्तिं दृष्टान्तयति। ५. अन्यो हि स आत्मा बुद्ध्यादीत्यादिभाष्यं व्याचिकीर्षन्नाह—बुद्ध्यादाविति।

हेयोपादेयप्रतिषेधेन स्वात्मनोऽन्यब्रह्मविषया जिज्ञासा शिष्यस्य निवर्तिता स्यात्। न ह्यन्यस्य स्वात्मनो विदिताविदिताभ्यामन्यत्वं वस्तुनः संभवतीत्यात्मा ब्रह्मेत्येष वाक्यार्थः। "अयमात्मा ब्रह्म" "य आत्माऽपहतपाप्मा"। "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म"। "य आत्मा सर्वान्तरः" इत्यादिश्रुत्यन्तरेभ्यश्चेत्येवं सर्वात्मनः सर्वविशेषरहितस्य चिन्मात्रज्योतिषो ब्रह्मत्वप्रतिपादकस्य वाक्यस्याऽऽचार्योपदेशपरम्परया प्राप्तत्वमाह-इति शुश्रुमेत्यादि। ब्रह्म चैवमाचार्योपदेश-परम्परयैवाधिगन्तव्यं न तर्कतः प्रवचनमेधाबहुश्रुततपोयज्ञादिभ्यश्चेत्येवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं पूर्वेषामाचार्याणां वचनम्। य आचार्या नोऽस्मभ्यं तद्ब्रह्म व्याचचक्षिरे व्याख्यातवन्तो विस्पष्टं कथितवन्तस्तेषामित्यर्थः।।३।।

अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीत्यनेन वाक्येनाऽऽत्मा ब्रह्मेति प्रतिपादिते श्रोतुराशङ्का जाता तत्कथं त्वात्मा ब्रह्म। आत्मा हि नामाधिकृतः कर्मण्युपासने च

वेदितुः स्वरूपं ब्रह्मेत्यत्र तात्पर्यमागमस्येत्याह— न ह्यन्यस्येति।।३।।

उक्तवाक्यार्थे लौकिकतार्किकमीमांसकप्रतिपत्तिविरोधमाशङ्क्य परिहरति विदितादन्यत्व-प्रपञ्चनाय— अन्यदेव तद्विदितादित्यादिना। अष्टसु स्थानेष्विति।

कारण ब्रह्म आत्मा स्वरूप ही है, यह इस वाक्य का अभिप्राय है। यही बात "यह आत्म ब्रह्म है" "जो आत्मा पाप से रहित है" "जो ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष रूप ही है" "जो आत्मा सर्वान्तर है" इत्यादि दूसरी श्रुतियों से भी सिद्ध होती है।

इस प्रकार सर्व विशेष रहित चिन्मात्र ज्योति स्वरूप सर्वात्मा में ब्रह्मत्व प्रतिपादन करने वाले वाक्यार्थ को **"शुश्रुम पूर्वेषाम्"** इत्यादि वाक्य द्वारा आचार्य उपदेशपरम्परा से प्राप्त होना बतलाया गया है। इस प्रकार वह ब्रह्म आचार्य उपदेश परम्परा से ही जानने योग्य है। तर्क, प्रवचन, मेधा, बहुश्रुत, तप एवं यज्ञादि से जानने योग्य नहीं है। ऐसा हमने पूर्वाचार्यों का वचन सुन रखा है, जिन आचार्यों ने हमें उस ब्रह्म का विस्पष्ट व्याख्यान किया था। बस (उन्हीं के वचनों से उसे जानना चाहिये) यह इसका अभिप्राय है ।।३।।

ब्रह्म वागादि का अविषय और अनुपास्य है

"ब्रह्म विदित से भिन्न और अविदित से भी ऊपर है" इस वाक्य से आत्मा ब्रह्मस्वरूप है। ऐसा प्रतिपादन करने पर श्रोता को यह शंका हो गयी कि आत्मा ब्रह्म कैसे हो सकता है क्योंकि आत्मा तो कर्म और उपासना के अधिकारी संसारी जीव को कहते हैं, जो कर्म अथवा उपासना रूप

विच्छेदलक्षणोऽविवेकात्मको बुद्ध्यवभासप्रधानश्चक्षुरादिकरणो नित्यचित्स्वरूपात्मा-न्तःसारो यत्रानित्यं विज्ञानमवभासते। बौद्धप्रत्ययानामाविर्भावतिरोभावधर्मकत्वात्त-द्धर्मतयैव विलक्षणमपि चावभासते। अन्तःकरणस्य [1]मनसोऽपि मनो[2]ऽन्तर्गतत्वा[3]त्सर्वा-न्तरश्रुतेः। अन्तर्गतेन नित्यविज्ञानस्वरूपेणाऽऽकाशवदप्रचलितात्मनाऽन्तर्गर्भभूतेन

संतानोऽनादिभवपरम्पराप्रापितस्तस्या[4] विच्छेदरूपम[5] निर्वाच्यमज्ञानलक्षणं चिह्नं यस्य चित्प्रतिबिम्बस्य स तथोक्तः। [6] चित्तन्त्रं ह्यनिर्वाच्यमज्ञानं चैतन्यमवच्छिद्य स्वावच्छिन्ने यथास्वरूपावभासं प्रतिबध्य मौढ्याद्यध्यासहेतुर्भवति। [7] तस्मादविवेकात्मको [8] जीव इत्युच्यते। बुद्धेरन्तःकरणस्य यथा यथा नीलपीताद्याकारावभासा जायन्ते तथा तथा चित्प्रतिबिम्बः प्रमातृत्वादिरूपेण भातीति तत्प्रधानोऽ-ध्यस्तस्य [9]विशिष्टस्य तत्सत्तयैव सत्त्वाद्विशिष्टान्तर्निविष्टो य आत्मा नित्यचित्स्वरूपः स एव [10]सारो यस्मिन्स तथोक्तः। बुद्धिपरिणामरूपाणां नीलपीतादिप्रत्ययानामुत्पन्नविनाशवत्त्वात्तदुपरक्तरूपेणानित्यं चैतन्यं यत्रावभासते सोऽन्यो जीवः। सर्वाण्येतानि जीवविशेषणान्यन्यत्वस्फुटीकरणार्थानि। न केवलमनित्यत्वं [11]विशिष्टोपाधिरूढतया विज्ञानस्य; तद्धर्मतयैवावभासते अपितु मनुष्योऽहं जानामीति प्रतिशरीरं विलक्षणमपि चैतन्यमवभासते विशिष्टभेदादित्यर्थः। परमार्थतः कीदृशं यस्य विशिष्ट-धर्मताऽवभासते तत्राऽऽह— अन्तःकरणस्येति। ननु विशेषणसंबन्धात्स्वरूपे समारोपितो विशिष्टो भाति तस्य मिथ्यात्वात्कथमात्मत्वव्यवहारास्पदत्वं तत्राऽऽह— अन्तर्गतेनेति। विशिष्टान्तर्गतेन चित्स्वरूपेण

परम्परा का विच्छेद न होना ही जिसका स्वरूप है, उसका आन्तरिक सार नित्य चैतन्य स्वरूप आत्मा ही है और जिसमें वृत्तिरूप अनित्य विज्ञान का अवभास हुआ करता है, वह अविवेकात्मक चिदाभास प्रधान एवं चक्षुरादि करणों वाला जीवात्मा कूटस्थ शुद्ध चैतन्य आत्मा से भिन्न ही है। बुद्धि वृत्तियों का उदय-अस्त उस वृत्तिज्ञान का धर्म है। अतः उत्पत्ति-विनाश शील धर्म के कारण नित्य विज्ञान घन आत्मा से विलक्षण भी प्रतीत होता है। अतः "आत्मा सर्वान्तर है" इस श्रुति से वह शुद्ध चैतन्य आत्म-तत्त्व अन्तःकरण रूप मन का भी मन है। आकाश के समान अविचल एवं सर्वत्र व्याप्त सर्वगत नित्य विज्ञान स्वरूप से भिन्न एवं उससे विलक्षण बुद्धि औपाधिक आत्मा उत्पत्ति-विनाशशील धर्म वाले

१. मनसोऽपि मनः—साक्षीत्यर्थस्तथा च साक्षित्वमेव तस्य परमार्थरूपं तच्च चिन्मात्रत्वमेव पर्यवसितं साक्षित्व-व्यपदेशस्यापि साक्ष्यसापेक्षत्वादिति बोध्यम्। २. अन्तर्गतत्वादिति—न हि गृहान्तर्जातवृत्तसाक्षित्वं गृहाद्-बाह्यस्य संभवतीति भावः। ३. सर्वान्तरश्रुतेरिति—"एष य आत्मा सर्वान्तर" इत्यादिश्रुतेरित्यर्थः। ४. अवि-च्छेदरूपमिति—अविच्छेदेन कार्येण रूप्यते गम्यत इत्यविच्छेदकारणमित्यर्थः। कार्यकारणयोरभेदाद्वा तद्रूप-मिति। ५. नित्यचित्प्रकाशमये ब्रह्मणि कुतस्तदित्यतोऽज्ञानं विशिनष्टि—अनिर्वाच्यमिति। अनुभूयमानत्वेना-पलापानर्हत्वान्नासत्। न च बाध्यत्वात्सदित्यनिर्वाच्यम्। न चानिर्वाच्येनाधिष्ठानं दुष्यति नित्यनीरूपस्वभावेऽपि हि नभस्यध्यस्त एव नीलिमा। अन्येनेति चेन्न जडत्वात्। ६. प्रतिबिम्बावच्छिन्नावेकीकृत्योक्तं स्फुटयति—चित्तन्त्रमित्यादिना। अज्ञोऽहमिति चिदधीनप्रतीतिकत्वात्तदेकतन्त्रं तत्। यथा मलिनादर्शादिः स्वावच्छिन्नमुखे मालिन्याद्यध्यासहेतुर्भवति तद्वदित्यर्थः। ७. तस्मादिति— अज्ञानप्रयुक्तमौढ्याद्यध्यासवत्त्वादित्यर्थः। ८. जीव इत्युच्यते—स प्रतिबिम्ब इति शेषः। ९. विशिष्टस्येति—अविद्यान्तःकरणादिसहितस्य जीवस्येत्यर्थः। १०. सार इति—स्थिरोऽबाध्योंऽश इत्यर्थः। सारो बले स्थिरांशे चेत्यमरोक्तेः। ११. रूढतया—तादात्म्येनोपरक्ततयेत्यर्थः।

यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।४।।

जो (चैतन्य मात्र सत्ता स्वरूप ब्रह्म) वाणी से प्रकाशित नहीं होता, किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है, उसी को तुम ब्रह्म जानो, जिस इस (देश काल से परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ।।४।।

संसारी कर्मोपासनं वा साधनमनुष्ठाय ब्रह्मादिदेवान्स्वर्गं वा प्राप्तुमिच्छति तत्तस्मादन्य उपास्यो विष्णुरीश्वर इन्द्रश्च प्राणो वा ब्रह्म भवितुमर्हति न त्वात्मा। लोकप्रत्यय-विरोधात्। यथाऽन्ये तार्किका ईश्वरादन्य आत्मेत्याचक्षते तथा कर्मिणः "अमुं यजामुं यज" इत्यन्या एव देवता उपासते। तस्माद्युक्तं यद्विदितमुपास्यं तद्ब्रह्म भवेत्। ततोऽन्य उपासक इति तामेतामाशङ्कां [१] शिष्यलिङ्गेनोपलक्ष्य [२] तद्वाक्याद्वा ह मैवं शङ्किष्ठाः। यच्चैतन्यमात्रसत्ताकं वाचा वागिति जिह्वामूलादिष्वष्टसु स्थानेषु विषक्त-

---

"अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च"

इत्येतेष्वाकाशप्रदेशेष्वाश्रितमित्यनेनाऽऽकाशोपादानत्वं सूचितम्। आग्नेयमिति। अग्निदेवताकमित्यर्थः। न केवल करणं वागुच्यते वर्णाश्चोच्यन्त इत्याह—वर्णाश्चेति। तदुक्तम्—

"यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादकाः।
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः" इति।

साधन का अनुष्ठान कर ब्रह्मादि देवों को अथवा स्वर्ग को प्राप्त करना चाहता है। अतः जीव से भिन्न उस जीव का उपास्य विष्णु, ईश्वर, इन्द्र या प्राण ही ब्रह्म होना चाहिये, आत्मा ब्रह्म नहीं हो सकता। साथ ही यह लोक प्रतीति के विरुद्ध भी है। जैसे अन्य तार्किक लोग ईश्वर से भिन्न आत्मा को मानते हैं, वैसे ही कर्मकाण्डी भी उसका यजन करो, उसका यजन करो, इस प्रकार अन्य देवता की ही उपासना करते हैं। अतः यही कहना उचित होगा जो विदित उपास्य है, वह ब्रह्म होगा, उपासक उससे भिन्न ही होता है। शिष्य की मुखाकृति से उपलक्षित अथवा उसके वाक्य से उसकी इस आशंका को उपलक्षित कर आचार्य कहते हैं, ऐसी शंका न करो।

जो चैतन्य सत्ता रूप ब्रह्म वाणी से प्रकाशित नहीं होता (जिह्वामूल, हृदय, कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, नासिका और ओष्ठ) आदि आठ स्थानों में आश्रित एवं अग्नि देवता से अधिष्ठित वर्णों का

---

१. शिष्यलिङ्गेनेति—अन्यदेवेत्यादिनोक्तेऽर्थेऽसंतुष्टिव्यञ्जकवदनादिविकृतिविशेषेणेत्यर्थः। २. तदिति—शिष्यवाक्यात्।

बाह्यो बुद्ध्यात्मा तद्विलक्षणोऽर्चिभिरिवाग्निः प्रत्ययैराविर्भावतिरोभावधर्मकैर्विज्ञानाभासरूपैरनित्यैरनित्यविज्ञान आत्मा सुखी दुःखीत्यभ्युपगतो लौकिकैरतोऽन्यो नित्यविज्ञानस्वरूपादात्मनः। तत्र हि विज्ञानापेक्षा विपरीतज्ञानत्वं चोपपद्यते न पुनर्नित्यविज्ञाने। तत्त्वमसीति बोधोपदेशो नोपपद्यत इति चेत्। आत्मानमेवावेदित्येवमादीनि च नित्यबोधात्मकत्वात्। न ह्यादित्योऽन्येन प्रकाश्यतेऽतस्तदर्थबोधोपदेशोऽनर्थक इति चेन्न। लोकाध्यारोपापोहार्थत्वात्। [१] सर्वात्मनि हि नित्यविज्ञाने [२] बुद्ध्याद्यनित्यधर्मा

तादात्म्याद्बाह्य इत्यनात्माऽपि बुद्धिविशिष्ट आत्मेत्युपगतो लौकिकैरिति संबन्धः। अत इत्युक्तधर्मवत्त्वादस्तु नित्यविज्ञानाद्विलक्षणो जीवः कथमेतावता विरोधः परिहृत इत्याकाङ्क्षायामाह— तत्र हीति। एवं लोकानुभवविरोधे परिहृतेऽपि शास्त्रविरोधो न परिहृत इत्याह— तत्त्वमसीति। विशिष्टस्य मिथ्यात्वाद्ब्रह्मास्मीत्यनुभवायोगान्मोक्षार्हत्वायोगाच्च तत्त्वमसीत्युपदेशो न घटते चेत्तर्हि ब्रह्मण एवोपदेशोऽस्त्वित्याशङ्क्याऽऽह— आत्मानमेवावेदिति। एवमादीनि वाक्यानि ब्रह्मोपदेशपक्षे न संगच्छन्ते [३] तज्जनितफलाभावादित्यर्थः। विशिष्टस्य निरूपाधिकस्य च ब्रह्मण उपदेशासंभवेऽप्युपाधिविशिष्टचित्स्वरूपजीवपद[४]लक्ष्यस्य [५]वैशिष्ट्यद्वारेणोपदेशो भविष्यति फलं तस्याऽऽरोपितबन्धनिवृत्तिरित्याह— न लोकेति। ननु लोकशब्देनाऽऽत्मोच्यतेऽनात्मा वा। नाऽऽद्यः। आत्मनोऽधिष्ठानतयाऽध्यासकर्तृत्वासंभवाच्चैत्रो हि शुक्तिकायां रजतमध्यस्यति [६]न शुक्तिकैव। अध्यासकर्तृत्वे चाऽऽत्मनः प्रागेवाध्या-

---

विज्ञानाभासरूप अनित्य वृत्तियों के कारण लौकिक पुरुष द्वारा सुखी-दुःखी है; ऐसा माना जाता है। जैसे ज्वालाओं के कारण अग्नि (उत्पत्ति, विनाशशील एवं दाह प्रकाश धर्म वाला प्रतीत होता है)। वह बुद्ध्यात्मा नित्य विज्ञान स्वरूप आत्मा से भिन्न ही है। उसी में विज्ञान की अपेक्षा है और विपरीत ज्ञानत्व भी सम्भव है; नित्य विज्ञान स्वरूप चैतन्य आत्मा में नहीं।

शंका :— तब तो "वह ब्रह्म तू है" तत्त्वज्ञान के लिये यह उपदेश भी अयुक्त है। वैसे ही "अपनी आत्मा को ही जाना" इत्यादि वाक्य भी निरर्थक हो जाएगा, क्योंकि ब्रह्म तो नित्य बोध स्वरूप है। सूर्य कभी भी दूसरे से प्रकाशित नहीं होता। अतः आत्मा के विषय में ज्ञान का उपदेश निरर्थक हो जायगा।

समाधान :— ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि अज्ञानी लोगों द्वारा किये गये अध्यारोप की निवृत्ति के लिये वह उपदेश सार्थक है। लोगों ने नित्य विज्ञानस्वरूप सर्वात्मा के ऊपर आत्मतत्त्व को न जानने के कारण बुद्धि आदि के अनित्य धर्मों का आरोप कर रखा है, उसकी निवृत्ति के लिये बोध स्वरूप आत्मा के बोध का उपदेश करना सार्थक है। उस बोध स्वरूप आत्मा में बोध और अबोध

---

१. सूत्रं व्याकरोति—सर्वात्मनि हीत्यादिना। २. बुद्ध्याद्यनित्यधर्मा इति—बुद्ध्यादय एव बुद्ध्यादीनां वा कर्तृत्वादयोऽनित्या धर्मा इत्यर्थः। ३. नित्यबोधात्मकत्वादित्यस्य तात्पर्यमाह—तज्जनितफलाभावादिति। वाक्यजं फलं बोध एव भवति स निर्विकारे बोधात्मनि नोत्पत्तुं शक्नोतीति भावः। ४. लक्ष्यस्येति—उपहितस्येति यावत्। ५. वैशिष्ट्यद्वारेणेति—लक्षणया लक्ष्योपस्थितौ, शक्यस्य संबन्धप्रतियोगितया, द्वारत्वादिति भावः। ६. न शुक्तिकैवेति—आत्मा नाध्यासकर्ताऽधिष्ठानत्वाच्छुक्तिकावदिति भावः।

माग्नेयं वर्णानामभिव्यञ्जकं करणं वर्णाश्चार्थसंकेतपरिच्छिन्ना एतावन्त एवं क्रमप्रयुक्ता इत्येवं तदभिव्यङ्ग्यशब्दः पदं वागित्युच्यते "अकारो वै सर्वा वाक्सैषा स्पर्शान्तस्थोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति" इति श्रुतेः। [१] मितममितं स्वरः सत्यानृते एव [२] विकारो यस्यास्तया वाचा पदत्वेन [३] परिच्छिन्नया करणगुणवत्याऽनभ्युदितमप्रकाशितमनभ्युक्तं येन ब्रह्मणा विवक्षितेऽर्थे सकरणा वागभ्युद्यते, चैतन्यज्योतिषा प्रकाश्यते प्रयुज्यत इत्येतत्। यद्वाचो ह वागित्युक्तं वदन्वाक्। यो वाचमन्तरो यमयतीत्यादि च वाजसनेयके। "या वाक्पुरुषेषु सा घोषेषु प्रतिष्ठिता

गौरिति पदं गकारौकारविसर्जनीया एवं **क्रमविशेषावच्छिन्ना इति मीमांसकाद्यनुसारेणोक्तं स्फोटवादिनोऽनुसारेणाऽऽह**—तदभिव्यङ्ग्य इति। **स्फुट्यते व्यज्यते वर्णैरिति स्फोटः** [४] **पदादिबुद्धिप्रमाणकः।** [५] **एकरूपाया बुद्धेरनेकवर्णावलम्बनत्वासंभवादिति भावः। उक्ते वाक्यार्थे श्रुतिसंमतिमाह**—अकार इति। **अकारप्रधानोंकारोपलक्षिता स्फोटाख्या चिच्छक्तिः सर्वा वाक्सैषा स्पर्शान्तस्थोष्मभिर्व्यज्यमाना कादयो मावसानाः स्पर्शा यरलवा अन्तस्थाः शषसहा ऊष्माणस्तैः क्रमविशेषावच्छिन्नैर्व्यज्यमाना नानारूपा विवर्तते। मितमृगादि पादावसाननियताक्षरत्वात्। अमितं यजुराद्यनियताक्षरपादावसानत्वात्। स्वरः साम गीतिप्राधान्यात्। सत्यं यथादृष्टार्थवचनम्। अनृतं तद्विपरीतम्। करणं वागिन्द्रियं गुण उपसर्जनं यस्याः सा करणगुणवती, पुरुषेषु चेतनेषु या वाक्शक्तिः सा घोषेषु**

अभिव्यञ्जक करण तथा अर्थ संकेत से परिच्छिन्न क्रमबद्ध जितने हैं, ऐसे नियम वाले वर्णों को वाक् शब्द से कहा है; साथ ही उस वागिन्द्रिय से अभिव्यक्त होने वाला शब्द भी पद और वाक् कहा जाता है। निःसन्देह अकार ही सम्पूर्ण वाक् है और यह वाक् ही अपने स्पर्श (क से म पर्यन्त) अन्तस्थ (य र ल व) और ऊष्म (श स ष ह) आदि भेदों से अभिव्यक्त हुई अनेक रूप वाली हो जाती है। इस प्रकार मित (ऋग्वेद), अमित (यजुर्वेद), स्वर (साम) एवं सत्य और मिथ्या, ये जिसके विकार हैं; उस पदरूप से परिच्छिन्न करण गुणयुक्त वाणी से प्रकाशित नहीं होता है, प्रत्युत जिस ब्रह्म के द्वारा करणों के सहित वाणी विवक्षित अर्थ में कही जाती है अर्थात् ज्योतिस्वरूप चैतन्य ब्रह्म से वाणी अपने विषय में प्रवृत्त होती है, जो वाणी की वाणी है, इस प्रकार कहा गया है, जिसके सम्बन्ध में वाजसनेयक में कहा है कि "बोलने के कारण वाणी है" "जो भीतर रहकर वाणी का नियमन करता है" इत्यादि एवं "चेतन प्राणियों में जो वाक् शक्ति है, वह वर्णों में प्रतिष्ठित है, उसे कोई ब्रह्मवेत्ता ही

---

१. स्फोटाख्याया वाचो व्यञ्जकवर्णोपाधिभेदेनोक्तं नानात्वमेव प्रपञ्चयति—मितममितमित्यादिना। २. विकारो विवर्तः। ३. परिच्छिन्नयेति—विवर्तितयेति यावत्। ४. पदादिबुद्धीति—आदिना वाक्यग्रहः। गौरित्येकं पदमित्येकत्वप्रकारिका या पदादिबुद्धिः सैव प्रमाणं यत्र स इत्यर्थः। ५. ननु तद्बुद्धिविषयत्वं वर्णानामेव नेत्याह—एकरूपाया इति। एकत्वप्रकारिकाया इति यावत्। न च समुदायस्यैक्याद्वर्णेषु सोपपद्यत इति शङ्क्यम्। उच्चरितप्रध्वस्तानां वर्णानां युगपत्सहानवस्थित्या समुदायासंभवादित्यन्यत्र विस्तरः।

लोकैरध्यारोपिता आत्माविवेकतस्तदपोहार्थो बोधोपदेशो बोधात्मनः। तत्र च बोधा-

---

सात्कर्तृत्वं वाच्यम्।[1] कर्तृत्वस्य प्राग्भावनियमा[2]त्तदा चानिर्मोक्षप्रसङ्गः। कर्तृत्वस्याध्यासत्वे च न कर्तृत्वमात्मान[3]स्तद्विषयकर्तृत्वान्तराभावात्।[4] भावे चानवस्थानात्। न द्वितीयः।[5] जडत्वादनात्मनोऽध्यासकर्तृत्वानुपपत्तेः।[6] चेतनो हि देवदत्तोऽध्यस्यतीति प्रसिद्धम्।[7] अथ जडस्याध्यासकर्तृत्वं नाम भ्रान्त्याश्रयत्वं यद्यपि न संभवति तथाऽपि भ्रन्तिनिमित्तत्वं दृष्टं जपाकुसुमादेः। न तस्य सत्यस्योपाधित्वसंभवा[8]द्भाष्यकारमते च जडस्य सर्वस्याध्यासात्मकत्वादध्यासहेतुत्वं[9]न संभवति[10]तस्मादसंबद्धमिदं भाष्यं लोकाध्यारोपापोहार्थत्वादिति[11]लोकशब्देनाहंकारादय उच्यन्ते।[12]तेषां व्यावहारिकसत्यत्वस्यार्थ-क्रियासमर्थत्वेनाभ्युपगमात्। स्वधर्मारोपनिमित्तत्वेनोपाधित्वसंभवात्परमार्थसत्यस्यैवोपाधित्वमित्यस्मान्प्रति दृष्टान्ताभावा[13]दहंकारादयश्च[14]चित्तन्त्रानाद्यनिर्वाच्याविद्यामयभूतसूक्ष्मविकारा अविद्यावच्छिन्न एव[15]चैतन्ये निपतन्ति। उपाधिविकाराणामुपहिते पक्षपातिताया दर्शनात्। यथा जलचलनादीनाम् तस्मान्नासंगतं भाष्यम्। ननु बोधात्मनो नाबोध समञ्जसः। निर्विकारत्वात्। कथं बोधात्मनो बोधोपदेशः सार्थकस्तत्राऽऽह— तत्र चेति। बोधा- दन्यस्याबोधात्मकत्वेनाबोधाश्रयत्वं न समञ्जसम्। आत्माश्रयत्वप्रसङ्गादनिवृत्तिप्रसङ्गाच्च[16]तस्य बोधासंभवात्। तस्माद्बोधात्मन एवाबोधः

युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं। जैसे अग्नि के निमित्त से जल में उष्णता का आरोप होता है तथा सूर्य के निमित्त दिन और रात हुआ करते हैं, वैसे ही बोध स्वरूप आत्मा में बोधाबोध का कारण आरोप ही

---

१. कर्तृत्वस्य प्राग्भावनियमादिति—कृतिरेव हि कर्तृत्वं सा चाध्यासं प्रति कारणं तच्च कार्यान्नियतपूर्ववृत्तिसर्वानुमतमिति भावः। २. तदा चानिर्मोक्षप्रसङ्ग इति—आत्मकर्तृत्वस्याध्यासप्राच्यत्वेऽनाध्यासिकत्वेनाबाध्यत्वात्तन्मूलाध्यासस्यावश्यंभावादिति भावः। ३. तद्विषयकर्तृत्वान्तराभावादिति—आत्मनि कृत्यध्यासानुकूलकृत्यन्तरासंभवादित्यर्थः ४. कृतिविषयकृत्युपगमे दोषमाह—भावे चेति। ५. जडत्वादित्यादि—अनात्मानाध्यासाश्रयो जडत्वाद्घटादिवदिति भावः। ६. अत्र प्रसिद्धिमनुकूलयति—चेतनो हीति। ७. सिद्धान्तिशङ्कामनूद्य दूषयति —अथेति। ८. भाष्यकारमत इति— उक्तं हीशावास्यमिति मन्त्रभाष्ये स्वात्मन्यध्यस्तं स्वाभाविकं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं जगद्द्वैतरूपमिति। ९. न संभवतीति—जडं नाध्यासनिमित्तं मिथ्यात्वाद्व्यतिरेकेण जपापुष्पवदिति भावः। १०. तस्मादिति—निमित्ताभावेनाध्यासासंभवादित्यर्थः। ११. आत्मानात्मग्रन्थिरूपतया तदुभयविलक्षणः कार्यकरणसंघात एव लोकशब्दार्थ इत्याशयेनाह-लोकशब्देनेति। १२. तत्र च चित्तादात्म्यवतामहंकारादीनां चिति कर्तृत्वाद्यारोपं प्रत्युपाधित्वमेवेत्याह—तेषामिति। १३. अहंकारादितादात्म्यवतोऽविद्यावच्छिन्नचैतन्यस्य त्वाश्रयत्वमित्याशयेनाह- अहंकारादयश्चेति। १४. चित्तन्त्रेत्यादि—अत्रेदमवधेयम्। कूटस्थचैतन्ये कर्तृत्वाद्यध्यासं प्रत्यहंकारादिरुपाधिरहंकाराद्यविद्यावच्छिन्नं चैतन्यमाश्रयः। अहंकाराद्यारोपे चाविद्यैव भूतसूक्ष्मद्वारोपाधिरविद्यावच्छिन्नमाश्रयः। स्वारोपे त्वविद्या स्वयमेव हेतुरिति सूचयितुमनाद्यनिर्वाच्येत्युक्तमाश्रयस्तु भ्रान्तेरविद्यावच्छिन्नमेव। उपहितमेव सर्वत्राधिष्ठानमवच्छिन्नं च कर्त्रित्येवमधिष्ठानकर्त्रोर्भेदाद्यदुक्तं नाद्य इत्यादि तत्सर्वमनवकाशमेव। अहंकाराद्यवच्छिन्नस्य घटादिवज्जडत्वाभावान्न द्वितीय इत्याद्युक्तमपि निरस्तमेवेति। १५. चैतन्ये निपतन्तीति - चैतन्यमाश्रयन्तीति यावत्। १६. तस्य बोधासंभवादिति—नहि तमसः प्रकाशाश्रयत्वं दृष्टम्। अन्तरेण च बोधमबोधनिवृत्तिः कुतस्त्येति भावः।

कश्चित्तां वेद ब्राह्मणः" इति प्रश्नमुत्पाद्य प्रतिवचनमुक्तम् "सा वाग्यया स्वप्ने भाषते" इति। सा हि वक्तुर्वक्तिर्नित्या वाक्चैतन्यज्योतिःस्वरूपा। "न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यते" इति श्रुतेः। तदेवाऽऽत्मस्वरूपं ब्रह्म निरतिशयं भूमाख्यं बृहत्त्वाद्ब्रह्मेति विद्धि विजानीहि त्वं यैर्वागाद्युपाधिभिः। वाचो ह वाक्चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः कर्ता भोक्ता विज्ञाता नियन्ता प्रशासिता विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेत्येवमादयः संव्यवहारा असंव्यवहार्ये निर्विशेषे परे साम्ये ब्रह्मणि प्रवर्तन्ते तान्व्युदस्याऽऽत्मानमेव निर्विशेषं ब्रह्म विद्धीत्येवशब्दार्थः। नेदं ब्रह्म यदिदमित्युपाधिभेदविशिष्टमनात्मेश्वराद्युपास्ते ध्यायन्ति। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीत्युक्तेऽपि नेदं ब्रह्मेत्यनात्मनो-

---

वर्णेषु प्रतिष्ठिता तद्व्यङ्ग्यत्वादित्यर्थः। तदेवेत्येवकारस्य कृत्यमाह— यैर्वागाद्युपाधिभिरिति। नियमार्थमिति। [१]पक्षेऽनात्मन्यपि ब्रह्मबुद्धौ प्राप्तायामात्मैव ब्रह्मेति बुद्धिं नियन्तुमित्यर्थः। [२] अन्यस्मिन्नुपास्ये

जानता है" इस प्रश्न का उत्थापन कर उत्तर दिया गया है कि "जिसके द्वारा स्वप्न में जीव बोलता है, वह वाक् है" वक्ता की वह नित्य वाक्शक्ति चैतन्य ज्योतिस्वरूपा है। इसी को "वक्ता की वाक्शक्ति का लोप कभी भी नहीं होता" इस श्रुति से भी कहा है।

उस आत्मस्वरूप को ही तू ब्रह्म जान क्योंकि वही बृहत् होने के कारण सबसे उत्कृष्ट और भूमा नाम वाला है। जिन वागादि उपाधियों के कारण वाणी की वाणी, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन, कर्ता, भोक्ता, विज्ञाता, नियन्ता, शासक, विज्ञान, आनन्द और ब्रह्म है, इत्यादि प्रकार व्यवहार उस व्यवहारातीत निर्विशेष सर्वश्रेष्ठ समरूप ब्रह्म में प्रवृत्त होते हैं, उन समस्त उपाधियों को बाधकर अपने निर्विशेष ब्रह्म आत्मा को ही जान, बस यही "एव" शब्द का अर्थ है। जिस उपाधि विशेष से विशिष्ट अनात्मा ईश्वरादि की उपासना लोग करते हैं, यह ब्रह्म नहीं है। "उसी को तू ब्रह्म जान" इतना कहने पर भी (अनात्म वस्तु में ब्रह्मरूपत्व का निषेध हो ही जाता है) पुनः यह ब्रह्म नहीं है। इस वाक्य से अनात्मा में अब्रह्मत्व जो कहा गया है, वह आत्मा में ही ब्रह्म बुद्धि का नियमन करने

---

१. नियमः पाक्षिके सतीति न्यायेनाह—पक्षेऽनात्मनीत्यादि। तदेव ब्रह्मेति वाक्यार्थविस्मरणवेलायां प्राक्तनसंस्कारपाटवादनात्मनि देहादावप्यात्मत्वबुद्धौ प्राप्तायामित्यर्थः। अत्र च उपासत इत्यस्यात्मत्वेनानुभूय सेवन्त इत्यर्थः। यद्वा सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्येवमादिवाक्यश्रवणे तदर्थानवधारणे चापाततः सर्वमिदं दृश्यं ब्रह्मेत्येवमनात्मनि ब्रह्मबुद्धौ प्राप्तायामित्यर्थः। अत्र उपासत इत्यस्य भोग्यत्वादिनानुभवन्तीत्यर्थः। आत्मन्येव ब्रह्मत्वधीदार्ढ्यायैवानात्मनोऽब्रह्मत्वपुनरुक्तिरिति यावत्। २. तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयत इति न्यायमनुसृत्याह—अन्यस्मिन्निति। तदेव ब्रह्मेति वाक्यादात्मनीव प्राणो ब्रह्म मनो ब्रह्मेत्येवमादिवाक्यादुपास्ये प्राणदावपि तत्त्वतो या ब्रह्मबुद्धिः प्राप्नोति तां निवर्तयितुं वेत्यर्थः।

बोधौ समञ्जसौ। अन्यनिमित्तत्वादुदक इवौष्ण्यमग्निनिमित्तम् रात्र्यहनी इवाऽऽदित्यनिमित्ते लोके नित्यावौष्णप्रकाशावग्न्यादित्ययो[१]रन्यत्र [२]भावाभावयोर्निमित्तत्वादनित्याविवोपचर्येते। धक्ष्यत्यग्निः प्रकाशयिष्यति सवितेति तद्वत्। एवं च सुखदुःखबन्धमोक्षाद्यध्यारोपो लोकस्य तदपेक्ष्य तत्त्वमस्यात्मानमेवावेदित्यात्मावबोधोपदेशेन श्रुतयः केवलमध्यारोपापोहार्थाः। यथा सविताऽसौ प्रकाशयत्यात्मानमिति तद्वत्। बोधा-

---

[३]समञ्जसः [४]परिशेषाद्विरोधश्चासिद्धः [५] साक्षिवेद्यत्वात्। बोधोऽपि तत्रैव समञ्जसो घटादेर्बौद्धत्वाप्रसिद्धेः। [७] चिद्व्याप्त एव बुद्धिपरिणामे बोधशब्द[८]व्युत्पत्तेः परिणाम्यन्तःकरणोपहितस्य [९]बोधात्मनो बोधवत्त्वं सामञ्जसमित्यर्थः। सामञ्जस्ये [१०]हेत्वन्तरमाह—अन्यनिमित्तत्वादिति। अन्यत्राहंकारादिसंघाते वादिनां लौकिकानां च बोधाबोधौ प्रसिद्धौ [११]तौ चाऽऽत्मबोधाबोधसंबन्धादित्यात्मनो मुख्यौ बोधाबोधौ। यत्संबन्धादन्यत्र यदुपचर्यते तत्तत्र मुख्यं यथाऽग्निसंबन्धादुदकस्यौष्ण्यमुपचारेणाग्नौ तन्मुख्यमित्यर्थः। आत्मनिमित्तौ चेदन्यत्र बोधाबोधौ तर्हि निमित्तत्वादात्मनो [१२]व्यापारवत्त्वप्रसङ्गस्तत्राऽऽह— रात्र्यहनी इवेति। [१३] यथाऽऽदित्यसंनिध्यसंनिधिमात्रनिमित्ते लोके रात्र्यहनी भवतः। [१४]नह्यादित्यः कंचन स्वापयत्युत्थापयति वा। अतो निमित्तत्वं न व्यापारवत्त्वा [१५]विनाभूतमित्यर्थः। नन्वात्मनि बोधस्य नित्यत्वे कथं कालावच्छेदव्यवहारः प्रागज्ञासिषं शास्त्रार्थमिदानीं च जानामि पुनर्ज्ञास्यामीति तत्राऽऽह दृष्टान्तम्—नित्यावौष्ण्यप्रकाशाविति। तद्वद्विषयस्य कालावच्छिन्नत्वेन कालावच्छेदव्यवहारः स्वरूपेण नित्येऽपि बोधे न विरुध्यत इत्यर्थः। आत्मनि बोधाबोधयोः सामञ्जस्ये किं सिद्धमित्यत आह— एवं चेति। आगन्तुकविषयसंबन्धात्तदुपरक्तरूपेण बोधस्याऽऽगन्तुकत्वेऽपी[१६]दानीं मया स्वात्मा बुध्यत इति नित्यबोधात्मनि कथं बोधकर्तृत्वव्यपदेश इत्याशङ्क्याऽऽवरकापनयस्याऽऽगन्तुकत्वेन भविष्यतीत्याह— यथा सविताऽसाविति। यस्मादन्योपाधिकमात्मनि बोधकर्तृत्वम्। स्वतः पुनर्विज्ञानानपेक्षत्वमेव।

है। उष्णता और प्रकाश; ये दोनों अग्नि तथा सूर्य के नित्य धर्म हैं किन्तु लोक में अन्यत्र अपने में भाव और अभाव के कारण अनित्य की भाँति औपचारिक प्रतीत होती हैं। इसीलिये अग्नि जला देगी, सूर्य प्रकाश कर देगा; ऐसा लोग कहते हैं। वैसे ही नित्य विज्ञान स्वरूप आत्मा के विषय में भी समझना चाहिये। इस प्रकार सुख-दुःख, बन्ध-मोक्षरूप अध्यारोप लोक में हो रहा है, उस अध्यारोप

---

१. अन्यत्रेत्यादि—अन्यत्र पटादिविषयेषु "तद्विषयकतयेति यावत्" अनित्याविवोपचर्येते व्यवह्रियेते इति संबन्धः। २. तथा व्यवहारे हेतुं दर्शयति—भावाभावयोर्निमित्तत्वादिति। विषयसद्भावासद्भावावेव तत्र निमित्तमित्यर्थः। ३. समञ्जसो न्याय्य इत्यर्थः। ४. परिशेषादिति—प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसक्तौ शिष्यमाणे संप्रत्ययः परिशेषः तस्मादित्यर्थः। ५. साक्षिवेद्यत्वादिति—न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति भावः। ६. घटादेर्बौद्धत्वाप्रसिद्धेरित्यनन्तरं परिशेषादिति। ७. न चात्रात्माश्रयत्वप्रसङ्ग इत्याशयेनाह—चिद्व्याप्त इति। ८. व्युत्पत्तेरिति—शक्तेरित्यर्थः। ९. बोधात्मनो बोधवत्त्वमिति—प्रकाशात्मनोऽपि रवेः प्रकाशात्मकरश्मिवत्त्वमिवेति द्रष्टव्यम्। १०. हेत्वन्तरमिति—घटादेरित्यादिनोक्तहेत्वपेक्षया अन्यं हेतुमित्यर्थः। ११. तौ चात्मबोधाबोधसंबन्धादिति—अवच्छिन्नवृत्तिधर्मस्यावच्छेदकवृत्तित्वभानस्य सुतप्तायोगोलकादौ दृष्टत्वादिति भावः। १२. व्यापारवत्त्वप्रसङ्ग इति—नह्यचलबलाहकादिन्दौ चलनं प्रतीयेतेति भावः। १३. व्याप्तिं व्यभिचारयति—यथेति। १४. न स्वापयतीति—प्रकृतकार्यानुकूलव्यापाराभावो विवक्षितस्तेनादित्यगतावप्यक्षतिः। अयस्कान्तो वा निर्देशयितव्यः। १५. अविनाभूतं—व्याप्तमित्यर्थः। १६. इदानीं मयेत्यादि—विषयबोधयोरुभयोर्नित्यत्वेन कार्यत्वकर्तृत्वव्यपदेशौ न निर्वहत इति भावः।

यन्मनसा न मनुते येनाऽऽहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।५।।

जिसे (कोई) मन से मनन नहीं करता है किन्तु जिससे मन भी मनन किया जाता है– ऐसा कहते हैं, उसी को तुम ब्रह्म जानो, जिस इस (देश-काल से परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।।५।।

ऽब्रह्मत्वं पुनरुच्यते नियमार्थमन्यब्रह्मबुद्धिपरिसंख्यानार्थं वा ।।४।।

यन्मनसा न मनुते। मन इत्यन्तःकरणं [1]बुद्धिमनसोरेकत्वेन गृह्यते। मनुतेऽनेनेति मनः [2]सर्वकरणसाधारणम्। [3]सर्वविषयव्यापकत्वात्। "[4]कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव इति श्रुतेः। कामादिवृत्तिमन्मनस्तेन मनसा यच्चैतन्यज्योतिर्मनसोऽवभासकं न मनुते न संकल्पयति नापि [5]निश्चिनोति।"

या ब्रह्मबुद्धिस्तन्निवृत्त्यर्थं वा पुनरब्रह्मत्वमुच्यत इत्यर्थः ।।४।।

के लिये या अन्य उपास्य देव में ब्रह्म बुद्धि के निवृत्ति के लिये कहा गया है ।।४।।

जिसका मनन मन से नहीं होता। यहाँ पर मन और बुद्धि को एक मानकर मन शब्द से अन्तःकरण को लिया गया है। जिसके द्वारा मनन करना है, वह समस्त इन्द्रियों के साधारण करण को मन कहा है। वह समस्त इन्द्रियों के विषयों में व्यापक होने से साधारण कहा गया है। "काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि और भय ये सब मन ही हैं" इस श्रुति से कामादि वृत्तियाँ मन के धर्म हैं। उस मन के द्वारा यह लोक जिस मन के प्रकाशक चैतन्य ज्योति का संकल्प

---

१. चित्ताहंकारावन्तर्भाव्याह–बुद्धिमनसोरिति। तयोरभेदान्मन इत्यन्तःकरणं गृह्यत इत्यन्वयः। २. मनुतेऽनेनेति व्युत्पादनान्मननक्रियां प्रत्येव मनसः करणत्वं न तु रूपादिदर्शनादिक्रियां प्रतीत्येतामाशङ्कां वारयितुमाह–सर्वकरणसाधारणमिति। सर्वेन्द्रियसहकारित्वेनेन्द्रियक्रियासामान्यं प्रति करणमिति यावत्। ३. तत्र हेतुमाह–सर्वविषयव्यापकत्वादिति। सर्वेन्द्रियविषयज्ञाने जननीये तत्संबन्धस्यापेक्षितत्वादिति यावत्। ४. मनसो लक्षणमुक्त्वा श्रुतिमुखेन स्वरूपं दर्शयति–काम इत्यादिना। बुद्धिमनसोरेकत्वे चेयं श्रुतिरनुकूलेत्यप्यवधेयम्। ५. निश्चिनोति–लोक इति शेषः।

[१]बोधकर्तृत्वं च नित्यबोधात्मनि। तस्मादन्यदविदितात्। अधिशब्दश्चान्यार्थे। यद्वा यद्धि यस्याधि[२] तत्ततोऽन्य[३]त्सामार्थ्याद्यथाऽधि भृत्यादीनां राजा। अव्यक्तमेवाविदितं ततोऽन्यदित्यर्थः। विदितमविदितं च व्यक्ताव्यक्ते कार्यकारणत्वेन विकल्पिते ताभ्यामन्यद्ब्रह्म विज्ञानस्वरूपं सर्वविशेषप्रत्यस्तमितमित्ययं समुदायार्थः। अत एवाऽऽत्मत्वान्न हेय [४]उपादेयो वा। अन्यद्ध्यन्येन हेयमुपादेयं वा। न तेनैवे त[५]द्यस्य कस्यचिद्धयमुपादेयं वा भवति। आत्मा च ब्रह्म सर्वान्तत्वादविषयम[६]तो[७]ऽन्यस्यापि न हेयमुपादेयं वा।[८]अन्याभावाच्च। इति शुश्रुम पूर्वेषामित्यागमोपदेशः। व्याचचक्षिर इत्यस्वातन्त्र्यं तर्कप्रतिषेधार्थम्। ये नस्तद्ब्रह्मोक्तवन्तस्ते नित्यमेवाऽऽगमं ब्रह्मप्रतिपादकं व्याख्यातवन्तो न पुनः स्वबुद्धिप्रभवेन तर्केणोक्तवन्त इत्यागमपारम्पर्याविच्छेदं दर्शयति विद्यास्तुतये। तर्कस्त्वनवस्थितो भ्रान्तोऽपि भवतीति।।३।।

तस्माद्विज्ञानानपेक्षत्वादविदितादन्यत्वं सिद्धम्। कथमन्यत्वविवक्षायामधिशब्दः संगच्छते तत्राऽऽह— अधिशब्दश्चेति। **निपातानामनेकार्थत्वाल्लक्षणया चेत्यर्थः। अविदितादन्यत्वस्याऽऽर्थिकमर्थमाह—** अव्यक्तमेवेति। **विदितं न भवत्यविदितं च न भवतीत्येकैकनिषेधस्य तात्पर्यमुक्त्वा समुदायार्थमाह—** विदितमविदितं चेति। **व्याचचक्षिर इत्यस्वातन्त्र्यं तर्कप्रतिषेधार्थमित्येतत्सूत्रं विवृणोति—** ये नस्तदिति।।३।।

की अपेक्षा से ही केवल अध्यारोप की निवृत्ति के लिये "**तत्त्वमसि**", आत्मानमेवावेत्" इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा के बोध के लिये उपदेश कर रही हैं।

जैसे वह सूर्य अपने को प्रकाशता है, (ऐसे वाक्य से प्रकाशस्वरूप सूर्य में प्रकाशकत्व का उपचार होता है) वैसे ही नित्य बोधस्वरूप आत्मा में बोध और अबोध का कर्तृत्व भी औपचारिक है। अतः वह आत्मा अज्ञात वस्तु से भी भिन्न है। यहाँ पर '**अधि**' शब्द का अन्य अर्थ करना चाहिये, क्योंकि जो जिससे ऊपर होता है, वह उससे भिन्न ही हुआ करता है, ऐसा शब्द सामर्थ्य से प्रतीत होता है। जैसे सेवकों से ऊपर होने के कारण राजा (उनसे भिन्न है) अव्यक्त ही अज्ञात है। उससे यह आत्मा पृथक् है, यह इसका अभिप्राय है। व्यक्त और अव्यक्त ही क्रमशः कार्य तथा कारणरूप से माने गये हैं। जिन्हें विदित और अविदित शब्द से यहाँ पर कहा गया है, उनसे भिन्न यह ब्रह्म है। जो सम्पूर्ण विशेषणों से रहित विज्ञान स्वरूप है। बस यही इस वाक्य समुदाय का अभिप्राय है। इसीलिये आत्मस्वरूप होने के कारण न हेय और न उपादेय ही है, क्योंकि अन्य वस्तु अन्य से हेय या उपादेय हुआ करती है, स्वयं उससे ही वह वस्तु किसी के लिये हेय या उपादेय नहीं होती। सबका अन्तर्यामी होने से ब्रह्म इन्द्रियों का अविषय है और वह आत्मा ही है। इसलिये वह किसी दूसरे का भी हेय या उपादेय नहीं है क्योंकि आत्मा से भिन्न कोई वस्तु भी नहीं है।

---

१. बोधाबोधकर्तृत्वमिति—अत्राबोधकर्तृत्वं बोधकर्तृत्वाभाव इति ध्येयम्। २. अधीति—उपरीत्यर्थः। ३. सामर्थ्यादिति—अभिन्नयोरुपर्यधोभावानुपपत्तेरित्यर्थः। ४. उपादेयो वा आत्मेति शेषः। ५. यस्य कस्यचिदित्यस्य देवादीनामन्यतमस्यपीत्यर्थो वा। तेनैव तदिति हस्तादिनैव हस्तादीत्यर्थः। ६. अतोऽविषयत्वात्। ७. अन्यस्यापि—इन्द्रियादेरपीत्यर्थः। ८. अन्याभावाच्चेति—आत्मैवेदं सर्वमिति श्रुतेरिति भावः।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूꣳषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।६।।

जिसे (कोई) नेत्र से नहीं देखता है किन्तु जिससे नेत्रों को भी देखता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जिस इस (देश काल से परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।।६।।

मनसो[१]ऽवभासकत्वेन नियन्तृत्वात्। [२]सर्वविषयं प्रति प्रत्यगेवेति स्वात्मनि न प्रवर्ततेऽन्तःकरणम्। अन्तःस्थेन हि चैतन्यज्योतिषाऽवभासितस्य मनसो मननसामर्थ्यं, तेन सवृत्तिकं मनो येन ब्रह्मणा मतं विषयीकृतं व्याप्तमाहुः कथयन्ति ब्रह्मविदः। तस्मात्तदेव मनस आत्मानं प्रत्यक्चेतयितारं ब्रह्म विद्धि। नेदमित्यादि पूर्ववत्।।६।।

यच्चक्षुषा न पश्यति न विषयी करोत्यन्तःकरणवृत्ति[३]संयुक्तेन, येन चक्षूंष्यन्तःकरण-वृत्तिभेद[४]भिन्ना[५]श्चक्षुर्वृत्तीः पश्यति लोकश्चैतन्यात्मज्योतिषा विषयी करोति व्याप्नोति।।६।।

सर्वं स्पष्टमिति न व्याख्यातम्।।५-६।।

या निश्चयरूप मनन नहीं कर सकता क्योंकि मन का प्रकाशक होने से वह तो उस मन का भी नियामक है। आत्मा सब विषयों के प्रति प्रत्यक्रूप ही है। अतः उस आत्मा में मन की प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि अपने भीतर स्थित चैतन्य ज्योति से ही प्रकाशित मन में मनन करने की शक्ति है। वृत्ति सहित मन जिस ब्रह्म के द्वारा व्याप्त है, ऐसा ब्रह्मवित् पुरुष कहते हैं। उस मन के भीतर चेतना भरने वाले आत्मा को ही तू ब्रह्म जान। "नेदम्" इत्यादि पदों की व्याख्या पूर्ववत् समझनी चाहिये।।५।।

अन्तःकरण की वृत्ति से युक्त नेत्र द्वारा जिसे नहीं देखता है, प्रत्युत जिस चैतन्य आत्मज्योति के द्वारा अन्तःकरण की वृत्तियों के भेद से विभिन्न हुई नेत्र इन्द्रियों की वृत्तियों को देखता है अर्थात् व्याप्त करता है, उसी को तू ब्रह्म जान इत्यादि पूर्ववत् समझना चाहिये।।६।।

---

१. अवभासकत्वेन नियन्तृत्वादिति—अभेदार्था तृतीयऽवभासकत्वात्मकनियन्तृत्ववत्त्वादित्यर्थः। चैतन्यज्योतिष इति शेषः। २. सर्वविषयं प्रतीति—स्वभास्यं सर्वं प्रति प्रत्यगात्मैव चैतन्यमिति स्वात्मनि तस्मिन्नन्तःकरणं प्रवर्तत इत्यर्थः। ३. संयुक्तेन चक्षुषेति पूर्वत्र संबन्धः। ४. भिन्नाः संभिन्नाः संयुक्ता इत्यर्थः। नानेति वा। ५. चक्षुर्वृत्तीश्चाक्षुषी वृत्तीरित्यर्थः।

यद्वाचेतिमन्त्रानुवादो दृढप्रतीतेः। अन्यदेव तद्विदितादिति योऽयमागमार्थो ब्राह्मणोक्तोऽस्यैव द्रढिम्ने मन्त्रा यद्वाचेत्यादयः पठ्यन्ते। यद्ब्रह्म वाचा शब्देनानभ्युदितमनभ्युक्तमप्रकाशितमित्येतत्। येन वागभ्युद्यत इति वाक्प्रकाशहेतुत्वोक्तिः। येन प्रकाश्यत इति वाचोऽभिधानस्याभिधेयप्रकाशकत्वस्य हेतुत्वमुच्यते ब्रह्मणः। उक्तं च केनेषितां वाचमिमां वदन्ति यद्वाचो ह वाचमिति। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीत्यविषयत्वेन ब्रह्मण आत्मन्यवस्थापनार्थ आम्नायः। यद्वाचाऽनभ्युदितं वाक्प्रकाशनिमित्तं चेति ब्रह्मणोऽविषयत्वेन वस्त्वन्तर[१]जिघृक्षां निवर्त्य स्वात्मन्येवावस्थापयत्याम्नायस्तदेव ब्रह्म त्वं [२]विद्धीति यत्नत उपरमयति। [३]नेदमित्युपास्यप्रतिषेधाच्च।।४।।

यद्वाचेतिमन्त्रानुवादो दृढप्रतीतेरिति सूत्रमेतद्विभजते— अन्यदेवेत्यादिना। **येन वागभ्युद्यत इत्यनेन वाक्प्रकाशे हेतुत्वोक्तिर्ब्रह्मणः क्रियत इति योजना।** एतत्सूत्रं विवृणोति— येनेत्यादिना। **तदेव ब्रह्म त्वं विद्धत्याद्यम्नाय आत्मन्येव [४]बुद्धेरवस्थापनार्थ [५]उपसंहारार्थः। अविषयत्वेन ब्रह्मणोऽतिरिक्तस्वरूपेण वेद्यत्वासंभवादिति योजना। एतत्सूत्रं विभजते**—यद्वाचेत्यादिना।।४।।

"इति शुश्रुम पूर्वेषाम्" ऐसा हमने पूर्व आचार्यों का वचन सुन रखा है, इससे परम्परा से आगम का उपदेश बतलाया गया है। जिन आचार्यों ने इसका व्याख्यान किया था, वह उनकी स्वतन्त्र कल्पना नहीं थी। ऐसा कह कर आचार्यों की अस्वतन्त्रता तर्क का प्रतिषेध करने के लिये कही गयी है। जिन्होंने हमसे उस ब्रह्म का व्याख्यान किया था, उन्होंने ब्रह्म प्रतिपादक नित्य आगम का ही व्याख्यान किया था न कि अपनी बुद्धि से या तर्क द्वारा कहा था। इस प्रकार ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिये आगम परम्परा का अविच्छेद बतलाया गया। इसके विपरीत तर्क अनवस्थित और भ्रान्त भी होता है।।३।।

'यद्वाचा' इत्यादि मन्त्रों का अनुवाद पूर्वोक्त आत्मतत्त्व की दृढ़ प्रतीति के लिये किया गया है अर्थात् वह ब्रह्म विदित से भिन्न है, ऐसा जो शास्त्र का तात्पर्यार्थ इस ब्राह्मण ग्रन्थ का पहले कहा गया है उसी की दृढ़ता के लिये **"यद्वाचा"** इत्यादि मन्त्र पढ़े जाते हैं।

जो ब्रह्म वाणी (शब्द) से प्रकाशित नहीं होता है, बल्कि जिससे वाणी प्रकाशित होती है; ऐसा कह कर वाणी के प्रकाश में उसे हेतु कहा गया है अर्थात् जिससे वाणी प्रकाशित होती है। इस प्रकार वाणी के अभिधान के वाच्य अर्थ को प्रकाशित करने में ब्रह्म को कारण कहा गया है।(वाणी

---

१. जिघृक्षां—जिज्ञासामित्यर्थः। २. इतरबोधाय यत्नं मा कार्षीरित्यर्थकेन लक्षणया विद्धीति पदेन वेदाचार्यो बुभुत्सुमितबोधयत्नान्निवर्तयतीत्याह—विद्धीति यत्नत उपरमयतीति। ३. ननु मातावदितरबोधाय कारियत्नो ब्रह्मबोधाय तु तदुपासनयत्नोऽपेक्षितव्य एव नेत्याह—नेदमितीति। शुद्धधियःसर्वेन्द्रियप्रयत्नोपरमे यः स्वाभाविकश्चित्ताकारः स एव ब्रह्मबोध इति भावः। (शुद्धधिय इति श्रुतवाक्यस्येति शेषः। स्वाभाविकश्चित्ताकारी ब्रह्माहमस्मीत्ययमेव संभवतीति भावः)। ४ तदेव ब्रह्मत्वमित्याम्नायभागस्तावद्बुद्धेरात्मन्यवस्थित्यर्थस्तदनु कूलार्थविषयश्च—बुद्धेरवस्थापनार्थ इति। ५. आत्मानात्माकारतयोर्बुद्धेः स्वाभाविक त्वेन त्वं ब्रह्मेत्युक्त्याऽऽत्मनि स्थिरीभावे सति नेतरबोधाय यत्नः कर्तव्य इत्यर्थकेन विद्धीत्यनेन यदनात्मभ्यो बुद्धेरुपसंहरणं तदेवात्मन्यवस्थापनं पर्यवस्यतीत्यभिप्रायेण व्याचष्टे—उपसंहारार्थ इति। तदुक्तम्—आत्मानात्माकारं स्वभावतोऽवस्थितं सदा चित्तम्। आत्मैकाकारतया तिरस्कृतानात्मदृष्टि विदधीतेति। आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेदिति च।

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदꣳ श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।७।।
यत्प्राणेन प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।८।।
इति प्रथमः खण्डः।।१।।

जिसे (कोई) श्रोत्र से नहीं सुनता है, पर जिससे श्रोत्र इन्द्रिय सुनी जाती है, उसी को तू ब्रह्म जान, जिस इस (देश-काल से परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ।।७।।

जिसे (कोई) नासिका छिद्रवर्ती घ्राण के द्वारा विषय नहीं करता है किन्तु जिस (चैतन्य आत्म ज्योति) से घ्राण अपने विषयों के प्रति जाता है उसी को तुम ब्रह्म जानो, जिस इस (देशकाल से परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है ।।८।।

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति दिग्देवताधिष्ठितेनाऽऽकाशकार्येण मनोवृत्तिसंयुक्तेन न विषयी करोति लोको येन श्रोत्रमिदं श्रुतं [१]यत्प्रसिद्धं चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकृतं तदेवेत्यादि पूर्ववत् ।।७।।

यत्प्राणेन घ्राणेन पार्थिवेन नासिकापुटान्तरवस्थितेनान्तःकरणप्राणवृत्तिभ्यां सहितेन यन्न प्राणिति गन्धवन्न विषयी करोति येन चैतन्यात्मज्योतिषाऽवभास्यत्वेन स्वविषयं प्रति प्राणः [२]प्रणीयते। तदेवेत्यादि सर्वं समानम्।।८।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ
केनोपनिषत्पदभाष्ये प्रथमः खण्डः।।१।।

।।७-८।। प्रथमः खण्डः।।१।।

दिशारूप देवता से अधिष्ठित मनोवृत्ति से संयुक्त आकाश के कार्यरूप श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा लोग जिसे विषय नहीं करता किन्तु जिस चैतन्य आत्मज्योति द्वारा यह प्रसिद्ध श्रोत्र विषय किया जाता है, वही ब्रह्म है। इत्यादि पूर्ववत् समझना चाहिये।।७।।

अन्तःकरण एवं प्राण की वृत्तियों के सहित नासिकान्तर्वर्ती पृथिवी के कार्यरूप घ्राण इन्द्रिय के द्वारा लोग जिसे गन्ध की भाँति विषय नहीं करता किन्तु जिस चैतन्य आत्मज्योति द्वारा प्रकाशित घ्राण अपने विषय की ओर प्रवृत्त होता है, वही ब्रह्म है, इत्यादि सभी अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये।।८।।

---

१. श्रोत्रमिदमिति श्रोत्रस्येदमा निर्देशं स्फुटयति—यत्प्रसिद्धमिति। यदिदं प्रसिद्धं तद्येन श्रुतमित्यर्थः। २. प्रणीयते—प्राप्यते।

यन्मनसेत्यादि समानम् । मनो मतमिति। येन ब्रह्मणा मनोऽपि विषयीकृतं नित्यविज्ञानस्वरूपेणेत्येतत्। सर्वकरणानामविषयं तानि च सव्यापाराणि सविषयाणि नित्यविज्ञानस्वरूपावभासतया येनावभास्यन्त इति श्लोकार्थः। "क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति" इति स्मृतिः। "तस्य भासा" इति चाऽऽथर्वणे। येन प्राण इति। क्रियाशक्तिरप्यात्मविज्ञाननिमित्तेत्येतत्।।५।।६।।७।।८।।

इति प्रथमः खण्डः।।१।।

मन्त्रसमुदायस्यार्थमाह— सर्वकरणानामित्यादिना। **यतसर्वकरणानामिवषयं येन निर्विशेषण सर्वाणि करणानि भास्यन्ते तद्ब्रह्मैव त्वं [1]ततोऽतिरिक्तज्ञानाय यत्नो न कर्तव्य इति यत्नोपरम एव लक्ष्यते विद्धीत्यनेना[2]तिरिक्तं मा विद्धीत्यभिप्रायः ।।५।।६।।७।।८।।**

इति प्रथमः खण्डः समाप्तः ।।१।।

में अर्थ प्रकाशन की शक्ति उस ब्रह्म की ही है)। "लोग किसकी प्रेरणा से इस वाणी को बालते हैं" इस प्रश्न के उत्तर में "जो वाणी की वाणी है।" इत्यादि वाक्य से पहले कहा जा चुका है "तू उसी को ब्रह्म जान" यह आगम ब्रह्म को अविषय रूप से बुद्धि में अवस्थित करने के लिये कहा गया है।

जो वाणी से प्रकाशित नहीं होता किन्तु वाणी के प्रकाश का जो निमित्त है, इस प्रकार ब्रह्म का अविषयत्व सिद्ध करता हुआ, यह आगम पुरुष को अन्य वस्तु के ग्रहण करने की इच्छा निवृत्ति पूर्वक अपनी आत्मा में ही स्थापित करता है। "उसी को तू ब्रह्म जान" एवं "जिस परिच्छिन्न वस्तु की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है" इत्यादि वाक्य द्वारा भी ब्रह्म में उपास्यत्व का निषेध करता हुआ साधक को अन्य प्रयत्न से उपरत कराता है ।।४।।

"यन्मनसा" इत्यादि श्रुतियों का तात्पर्य पूर्व के समान ही है। जिस नित्य विज्ञान स्वरूप ब्रह्म द्वारा मन भी जाना जाता है, जो स्वयं सभी इन्द्रियों का अविषय है। नित्य विज्ञान स्वरूप से अवभासित होने के कारण जिससे अपने-अपने व्यापार के सहित सभी इन्द्रियाँ प्रकाशित होती हैं, यही इन पूर्वोक्त मन्त्रों का तात्पर्य है। तथा "क्षेत्रज्ञ सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है", इस स्मृति से "उसी के तेज से (यह सब प्रकाशित होता है)" इस मुण्डक श्रुति से भी यही सिद्ध होता है। **"येन प्राणः"** इस श्रुति का अभिप्राय यह है कि ज्ञानशक्ति की भाँति क्रियाशक्ति भी आत्मविज्ञान के कारण ही प्रवृत्त होती है।।५-८।।

।। इति प्रथम खण्ड।।

---

१. तत इति—तदैव ब्रह्मत्वादित्यर्थः। २. विद्धीति पदस्य यत्नोपरमलक्षकत्वमेव स्फुटयन्नाह—अतिरिक्तं मा विद्धीत्यभिप्राय इति। यन्मनसेत्यादिना सर्वकरणाविषयत्वख्यापनाद्ब्रह्म विद्धीति वक्तुमशक्यत्वादतिरिक्तं मा विद्धीति लक्षणा। वीतरागजन्मादर्शनादित्यस्य सरागजन्मदर्शनादितिवत्। तथा च यत्नोपरम एव लभ्यत इति भावः।

अथ द्वितीयःखण्डः

यदि मन्यसे सुवेदेति दहरमेवापि नूनम्। त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमाꣳस्यमेव ते मन्ये विदितम्।।९।।१।।

यदि (कदाचित्) ऐसा मानते हो कि (ब्रह्म को) मैं अच्छी प्रकार जानता हूँ, तो निश्चय ही तू ब्रह्म के रूप को थोड़ा ही जानते हो। इस ब्रह्म का जो मनुष्यों में आध्यात्मिक और देवताओं में आधिदैविक रूप वदित है (वह अल्प ही है)। अतः तेरे लिये ब्रह्म विचारणीय ही है। (इस प्रकार गुरु का उपदेश सुनकर शिष्य ने एकान्त देश में विचार करने के पश्चात् कहा कि) मैंने ब्रह्म को जान लिया, ऐसा मैं समझता हूँ ।।१।।

एवं हेयोपादेयविपरीतस्त्वमात्मा ब्रह्मेति प्रत्यायितः शिष्योऽहमेव ब्रह्मेति सुष्ठु वेदाहं मामिति गृह्णीयादित्याशङ्क्याऽऽचार्यः शिष्यबुद्धिविचालनार्थं यदीत्याह। नन्विष्टैव सुवेदाहमिति निश्चिता प्रतिपत्तिः सत्यमिष्टा निश्चिता प्रतिपत्तिर्न हि सुवेदाहमिति। यद्धि वेद्यं वस्तु विषयी भवति तत्सुष्ठु वेदितुं शक्यं [1]दाह्यमिव दग्धुमग्नेर्दग्धुर्न त्वग्नेः स्वरूपमेव। सर्वस्य हि वेदितुः स्वात्मा ब्रह्मेति सर्ववेदान्तानां सुनिश्चितोऽर्थः। इह च तदेव प्रतिपादितं प्रश्नप्रतिवचनोक्त्या श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्याद्यया। यद्वाचाऽनभ्युदितमिति विशेषतोऽवधारितम्। ब्रह्मवित्संप्रदायनिश्चयश्चोक्तोऽन्यदेव

वेदितुः स्वरूपत्वे ब्रह्मणो मा भूद्विषयत्वम्। स्वरूपत्वे मानाभावात्। अतिरिक्तस्य विषयत्वे किमनुपपन्नमित्याशङ्क्याऽऽह– सर्वस्य हीति। **यदिशब्दप्रयोगे किं कारणमित्यत आह–** कदाचिदिति।

ब्रह्मज्ञान की अलौकिकता

इस प्रकार त्याग एवं ग्रहण से विपरीत तू आत्मा ही है, ऐसा बोध कराया गया, इससे शिष्य कहीं यह न समझ बैठे कि मैं ही ब्रह्म हूँ। इस प्रकार मैं उसे अच्छी प्रकार जानता हूँ, इसी अभिप्राय से शिष्य की बुद्धि को विचलित करने के लिये आचार्य ने **"यदि मन्यसे"** इत्यादि कहा।

शंका :– मैं उसे अच्छी प्रकार जानता हूँ। ऐसी निश्चित प्रतीति तो इष्ट ही है।

समाधान :– यह बात तो ठीक ही है। निश्चित ज्ञान इष्ट है किन्तु "मैं उसे अच्छी प्रकार जानता हूँ" ऐसा कथन इष्ट नहीं है क्योंकि जो वेद्य वस्तु ज्ञान का विषय होती हे, वही अच्छी प्रकार जानी जा सकती है। जैसे जलाने वाली अग्नि जलने योग्य पदार्थ को ही जला सकती है, अग्नि के स्वरूप को नहीं। सभी जानने वालों का आत्मा ही ब्रह्म है। यह सम्पूर्ण वेदान्तों का सुनिश्चित अर्थ है। **यहाँ** पर भी **"श्रोत्रस्य श्रोत्रम्"** इत्यादि प्रश्नोत्तर द्वारा वैसा ही बतलाया गया है। उसी को **"यद्वाचानभ्युदितम्"** इस आगम द्वारा विशेष रूप से निश्चय कराया गया। वह विदित से अन्य है और

---

१. दाह्यं काष्ठादि।

यदि मन्यसे सुवेदेति शिष्यबुद्धिविचालना गृहीतस्थिरतायै। विदिताविदिताभ्यां निवर्त्य बुद्धिं शिष्यस्य स्वात्मन्यवस्थाप्य तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीति [1]स्वाराज्येऽभिषिच्योपास्यप्रतिषेधेनाथास्य बुद्धिं विचालयति यदि मन्यसे सुवेदाहं ब्रह्मेति त्वं ततोऽल्पमेव ब्रह्मणो रूपं वेत्थ त्वमिति नूनं निश्चितं [2]मन्यत इत्याचार्यः। सा पुनर्विचालना किमर्थेत्युच्यते पूर्वगृहीते वस्तुनि बुद्धेः स्थिरतायै। देवेष्वपि सुवेदाहमिति मन्यते यः सोऽप्यस्य ब्रह्मणो रूपं दहरमेव वेत्ति नूनम्। कस्मात्। अविषयत्वात्कस्यचिद्ब्रह्मणः। अथवाऽल्पमेवास्या[3]ऽऽध्यात्मिकं मनुष्येषु देवेषु च आधिदैविकमस्य ब्रह्मणो यद्रूपं [4]तदिति संबन्धः। अथ न्विति हेतुर्मीमांसायाः। यस्माद्दहरमेव सुविदितं ब्रह्मणो रूपमन्य-

---

यदि मन्यसे सुवेदेत्यनेन वाकयेन शिष्यबुद्धिविचालना क्रियते स्थूणानिखननन्यायेन गृहीतस्य दार्ढ्यार्थम्। एतत्संग्रहवाक्यं विवृणोति— विदिताविदिताभ्यामित्यादिना। **अल्पमेव ब्रह्मणो रूपं नूने त्वं वेत्थेति को मन्यत इत्याकाङ्क्षायामाह—** मन्यत इत्याचार्य इति। [5]यदिति। **यादृशमस्य ब्रह्मणो रूपं त्वममंस्थास्तादृशं देवेष्वपि यो मन्यते सोऽपि दहरमेव नूनं मन्यत इति योजना। अथ**

।। अथ द्वितीय खण्ड।।

"यदि मन्यसे सुवेद" इत्यादि वाक्य से शिष्य की बुद्धि को विचलित उसके पूर्वोक्त ग्रहण किये गये अर्थ को स्थिर करने के लिये ही किया जाता है। ज्ञात और अज्ञात वस्तु से हटा कर "उसी को तू ब्रह्म जान" इस वाक्य से शिष्य की बुद्धि को आत्म स्वरूप में स्थिर कर एवं उपास्य के प्रतिषेध द्वारा उस स्वाराज्य पद पर अभिषिक्त कर अब शिष्य की बुद्धि को गुरु विचलित करते हैं।

यदि तू समझता है कि ब्रह्म को मैं अच्छी प्रकार जानता हूँ, तो निःसन्देह ब्रह्म के अल्परूप को ही जानता हूँ, ऐसा आचार्य समझाते हैं। परन्तु शिष्य की बुद्धि को आचार्य जो विचलित कर रहे हैं, वह केवल पहले से ग्रहण किये गये अर्थ में बुद्धि को स्थिर करने के लिये ही है। इसी आशय से आचार्य कहते हैं कि देवताओं में भी जो कोई ऐसा समझता है कि ब्रह्म को मैं अच्छी प्रकार जानता हूँ तो निःसन्देह वह भी ब्रह्म के अल्परूप को ही जानता है, क्यों? क्योंकि ब्रह्म किसी का विषय नहीं है अथवा इस प्रकार सम्बन्ध लगावें कि इस ब्रह्म का जो आध्यात्मिक रूप मनुष्यों में और जो आधिदैविक रूप देवताओं में है, वह अल्प ही है। अथ **"नु"** ऐसा कह कर ब्रह्म के विचार में हेतु दिखला रहे हैं, क्योंकि ब्रह्म विदित से भिन्न ही है, ऐसा कहने के कारण ब्रह्म का अच्छी प्रकार जाना हुआ

---

१. स्वाराज्ये—निरङ्कुशे स्वातन्त्र्य इति यावत्। २. मन्यत इत्याचार्य इति—इत्याचार्यो मन्यत इत्यन्वयः। ३. आध्यात्मिकं मनुष्येष्विति—त्वमित्यस्यायमर्थः। ४. तदिति संबन्ध इति—तदल्पमेवेति संबन्ध इत्यर्थः। ५. प्रतीकादानपूर्वकमूलस्थयच्छब्दार्थं वदन् योजनां दर्शयति—यदितीत्यादि।

तद्विदितादथो विदितादधीत्युपन्यस्तमुपसंहरिष्यति चाविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानतामिति। तस्माद्युक्तमेव शिष्यस्य सुवेदेति बुद्धिं निराकर्तुम्। न हि वेदिता वेदितुर्वेदितुं शक्योऽग्निरिव दग्धुमग्नेः। न चान्यो वेदिता ब्रह्मणोऽस्ति यस्य वेद्यमन्यत्स्याद्ब्रह्म। "नान्यदतो स्ति विज्ञातृ" इत्यन्यो विज्ञाता प्रतिषिध्यते। तस्मात्सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति प्रतिपत्तिर्मिथ्यैव। तस्माद्युक्तमेवाऽऽहाचार्यो यदीत्यादि। यदि कदाचिन्मन्यसे सुवेदेति सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति। कदाचिद्यथाश्रुतं दुर्विज्ञेयमपि क्षीणदोषः सुमेधाः कश्चित्प्रतिपद्यते कश्चिन्नेति साशङ्कमाह यदीत्यादि। दृष्टं च "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म" इत्युक्ते प्राजापत्यः पण्डितोऽप्यसुरराड्विरोचनः स्वभावदोषवशादनुपपद्यमानमपि विपरीतमर्थं शरीरमात्मेति प्रतिपन्नः। तथेन्द्रो देवराट्सकृद्द्विस्त्रिरुक्तं चाप्रतिपद्यमानः स्वभावदोषक्षयमपेक्ष्य

अक्षिणि शरीरस्य प्रतिच्छाया दृश्यत इति [1]प्रसिद्धवदुपदेशाच्छरीरमात्मेति प्रतिपन्नः। [2]छायाया व्यभिचारित्वं बुद्ध्वेत्यर्थः। सकृदिति। "य एषो[3]ऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते" इत्येकवारमुक्तम्, "य एष

अविदित से भी ऊपर है। इस श्रुति से ब्रह्मज्ञानियों के सम्प्रदाय का निश्चय कहा गया है। पूर्वोक्त प्रसंग का उपसंहार "जानने वालों के लिये अविज्ञात और न जानने वालों के लिये ब्रह्म विज्ञात कहा जाता है" इस वाक्य से करेंगे। अतः "मैं अच्छी प्रकार जानता हूँ" शिष्य की इस धारणा का निराकरण करना उचित ही है।

जिस प्रकार जलाने वाले अग्नि द्वारा स्वयं अग्नि जलाया नहीं जा सकता, वैसे ही अपने जानने वाले को स्वयं जानने वाला नहीं जाना जा सकता। ब्रह्म का ज्ञाता कोई है नहीं जिसका कि वह उससे भिन्न ब्रह्म वेद्य हो सके। इससे भिन्न और कोई विज्ञाता नहीं है" इस श्रुति के द्वारा भी ब्रह्म से भिन्न विज्ञाता का निषेध ही किया गया है। अतः "मैं ब्रह्म को अच्छी प्रकार जानता हूँ" यह धारणा मिथ्या ही है। इसीलिये "यदि मन्यसे" इत्यादि वाक्य आचार्य ने ठीक ही कहा है।

यदि कदाचित् तू ऐसा मानता है कि मैं ब्रह्म को अच्छी प्रकार जानता हूँ। यदि इत्यादि से सशंकित हो गुरु का कथन ठीक ही है, क्योंकि कभी-कभी दोष रहित कोई बुद्धिमान् पुरुष दुर्विज्ञेय विषय को भी सुने हुये के अनुसार ही समझ लेता है और कोई नहीं भी समझता है। ऐसा देखा भी गया है "यह जो नेत्रों के भीतर पुरुष दीखता है, यही आत्मा है। यह अमर है, यह अभय है और यही ब्रह्म है, ऐसा प्रजापति ने कहा"। इस प्रकार ब्रह्मादि के कहने पर प्रजापति की सन्तान और पण्डित होता हुआ भी असुरों के राजा विरोचन ने अपने स्वभाव दोष के कारण युक्ति विरुद्ध होता हुआ भी 'शरीर ही आत्मा है' ऐसा विपरीत अर्थ समझ लिया तथा देवताओं के राजा इन्द्र ने एक, दो तथा

---

१. प्रसिद्धवदिति— यथा प्रसिद्धं गवाद्युपदिश्यते इयं गौरिति तद्वदयमक्षणि दृश्यमान आत्मेत्युपदेशादित्यर्थः। २. अक्षिदृश्यच्छायाऽऽत्मेत्युपदिष्टे शरीरस्यात्मत्वप्रतिपत्तौ हेतुमाह— छायाया व्यभिचारित्वं बुद्ध्वेति। अनुभूयमानेऽप्यात्मनि अक्ष्यसंनिधाने छाया नानुभूयत इत्येवं तस्या व्यभिचारित्वादित्यर्थः। ३. अक्षिणि पुरुषो द्रष्टा योगिभिर्दृश्यत इत्यर्थः।

देव तद्विदितादित्युक्तत्वात्सुवेदेति च मन्यसेऽतोऽल्पमेव वेत्थ त्वं ब्रह्मणो रूपं यस्मादथ नु तस्मान्मीमांस्यमेवाद्यापि ते तव ब्रह्म विचार्यमेव यावद्विदिताविदितप्रतिषेधागमार्थानुभव इत्यर्थः। मन्ये विदितमिति शिष्यस्य मीमांसानन्तरोक्तिः प्रत्ययत्रयसंगतेः। सम्यग्वस्तुनिश्चयाय विचालितः शिष्य आचार्येण मीमांस्यमेव त इति चोक्त एकान्ते समाहितो भूत्वा विचार्य यथोक्तं सुपरिनिश्चितः सन्नाहाऽऽगमाचार्यात्मानुभवप्रत्यय-

---

न्विति हेतुर्मीमांसाया इति संग्रहवाक्यं विवृणोति— यस्मादित्यादिना। **प्रतिवचनस्यार्थं संगृहीतं विवृणोति—** सम्यगित्यादिना। विचार्येति। **मया विदितं ब्रह्मेति किं प्रतिवचनं ददाम्युताविदितमिति वा। नाऽऽद्यः। आचार्यागमप्रत्ययविरोधाद्वेदनविषयतया च घटवदब्रह्मत्वप्रसङ्गाद्वेदितृत्वेन मम [१]विकारित्वापाताच्च। न द्वितीयः। [२]गोपालादिभ्योऽविशेषप्रसङ्गात्तूष्णीमवस्थाने वा[३]ऽप्रतिभाप्रसङ्गादिति विचार्यैकैकपक्षदोषपरिजिहीर्षया विदितमविदितं चेति [४]समुच्चितं वच्मि।अज्ञानसंशयाद्यभावाद्विदितं वेदनविषयत्वाभावाच्चाविदितमिति सुपरिनिश्चितः सन्प्रतिवचनमाहेत्यर्थः। प्रत्ययत्रयस्य संगतिः संघटनमेकस्मिन्विषये किमर्थमुच्यते संवादाधीनं प्रामाण्यमिति [५]तार्किकस्थितेर्निश्चयार्थम्। [६]स्वतः-प्रामाण्यपक्षे त्वागमार्थे प्रत्ययान्तरसंवाद[७]स्तात्पर्यद्योतकः [८]प्रतिबन्धनिरासेनोपचारेण निश्चयहेतुरिति**

रूप अल्प ही तो होगा। तू यह मानता है कि मैं उसे अच्छी प्रकार जानता हूँ। अतः तू भी ब्रह्म के अल्प स्वरूप को ही जानता है। अतः विदित और अविदित का प्रतिषेध करने वाले आगम वाक्य का अनुभव जब तक तुझे न हो जाय तब तक तेरे लिये ब्रह्म विचारणीय ही है, ऐसा मैं आज भी समझता हूँ। यह इसका अभिप्राय है। **"मन्ये विदितम्"** शिष्य का यह कथन ब्रह्म मीमांसा के अनन्तर का है क्योंकि ऐसा मानने पर तीन प्रकार की प्रतीतियों की संगति बैठती है। वस्तु के यथार्थ निश्चय के लिये विचलित किये गये शिष्य से गुरु ने कहा कि "तेरे लिये अभी ब्रह्म विचारणीय ही है" तब शिष्य ने एकान्त देश में समाहित चित्त हो पूर्वोक्त रीति से ब्रह्मविचार के अनन्तर भलीभाँति निश्चय करके

---

१. विकारित्वापातादिति—वेदितुर्वेदनपरिणामित्वादिति भावः। ब्रह्मत्वाच्च मे विकारानर्हत्वादिति। २. गोपालादिभ्य इत्यादिमौर्ख्यप्रसङ्गादिति यावत्। ३. अप्रतिभाऽस्फूर्तिर्जाड्यमिति यावत्। ४. समुच्चितमिति—तत्र ह्यविदितत्वोक्त्या विदितपक्षदोषपरिहारः। विदितत्वोक्त्या चाविदितपक्षदोषपरिहार इति भावः। ५. इति तार्किकस्थितेरिति—इदं ज्ञानं प्रमा तद्वति तत्प्रकारकत्वात् सफलप्रवृत्तिजनकत्वादित्येवं ज्ञानान्तरसंवादेनैव ज्ञानप्रामाण्यं गृह्यत इति तार्किकसिद्धान्तादित्यर्थः ६. स्वतःप्रामाण्यपक्षे त्विति-ज्ञानस्य प्रामाण्यं स्वत एवं गृह्यत इति मीमांसकपक्षे त्वित्यर्थः। प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं च ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वम्। ७. तात्पर्यद्योतक इति-प्रजापतिवाक्यानां ह्यादित एव प्रमाणत्वेऽपि स्वानुभवसंवादात्पूर्वं न तत्तात्पर्यमद्युतन्मघोनस्तेन च संशयादिरन्यप्रतिबन्धानिरासान्न तदर्थनिश्चयोऽप्यजनिष्ट। अन्तिमे तु पर्याये स्वानुभवसंवादे सति समग्रोपदेशतात्पर्यमस्फुरत्ततः संशयादिनिरासेन परमार्थं निश्चिकायेन्द्रः यथाश्रुतग्राही तु विरोचनः संवादमनपेक्ष्य विपरीतमग्रहीदिति स्वतःप्रामाण्येऽप्यागमार्थे प्रत्ययसंवाद आवश्यक इति भावः। ८. प्रतिबन्धनिरासेनोपचारेणेति—उपचार उपायो द्वारं तथा च प्रतिबन्धनिरासद्वारेति द्वयोरर्थः।

चतुर्थे पर्याये प्रथमोक्तमेव ब्रह्म प्रतिपन्नवान्। लोकेऽप्येकस्माद्गुरोः [1]शृण्वतां कश्चि[2]द्यथावत्प्रतिपद्यते कश्चि[3]दयथावत्कश्चिद्विपरीतं कश्चिन्न प्रतिपद्यते किमु वक्तव्यमतीन्द्रियमात्मतत्त्वम्। अत्र हि विप्रतिपन्नाः सदसद्वादिनस्तार्किकाः सर्वे। तस्मादविदितं ब्रह्मेति सुनिश्चितोक्तमत्पि [4] विषयप्रतिपत्तित्वाद्यदि मन्यस इत्यादि साशङ्कं वचनं युक्तमेवाऽऽचार्यस्य। दहरमल्पमेवापि नूनं त्वं वेत्थ जानीषे ब्रह्मणो रूपम्। किमनेकानि ब्रह्मणो रूपाणि महान्त्यर्भकाणि च येनाऽऽह दहरमेवेत्यादि। बाढम्। अनेकानि हि नामरूपोपाधिकृतानि ब्रह्मणो रूपाणि न स्वतः। स्वतस्तु "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्" इति शब्दादिभिः सह रूपाणि प्रतिषिध्यन्ते। ननु येनैव धर्मेण यद्रूप्यते तदेव तस्य स्वरूपमिति ब्रह्मणोऽपि येन विशेषेण निरूपणं तदेव तस्य रूपं स्यादत[5] उच्यते। चैतन्यं पृथव्यादीनामन्यतमस्य सर्वेषां विपरिणतानां वा धर्मो न

स्वप्ने [6]महियमानश्चरति" इति द्वितीयेनोक्तम्, "तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः" इति त्रिरुक्तमप्यात्मानपप्रतिपद्यमान इन्द्रो ब्रह्मचर्येणाधर्मादिदोषक्षयमपेक्ष्य चतुर्थे पर्याये "[7]एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य" इत्यत्र प्रथमपर्यायोक्तमेव ब्रह्मप्रतिपन्नवानित्यर्थः। अर्भकाणि चेति। **अल्पानि। न स्वतो रूपमस्ति ब्रह्मण इत्युक्तं तदाक्षिपति**—ननु येनैवेति। **केन तर्हि विशेषेण ब्रह्मणो निरूपणमित्याकाङ्क्षायां चैतन्यरूपेणेत्याह**—चैतन्यमिति। **भूतानां समस्तानां व्यस्तानां**

तीन बार कहने पर भी भावार्थ न समझ कर अपने स्वभाव दोष के नाश होने पर चौथी बार कहने के बाद पहले की भाँति ही ब्रह्म को समझ पाया। लोक में भी एक ही गुरु से सुनने वालों में कोई ठीक-ठीक समझता, कोई ठीक नहीं समझता और कोई उलटा समझ लेता है और कोई समझता ही नहीं। फिर भला इन्द्रियातीत आत्मतत्त्व को न समझ सके, इसमें क्या आश्चर्य है। इस विषय में सभी सद्वादी और असद्वादी तार्किक भी विपरीत अर्थ ही समझ बैठे हैं। अतः मैंने ब्रह्म को जान लिया, मैंने ब्रह्म को जान लिया। यह कथन सुनिश्चित होता हुआ भी विषम बोध होने के कारण **"यदि मन्यसे सुवेद"** इत्यादि आचार्य का शंकालिप्त हो बोलना उचित ही है। ऐसी स्थिति में निःसन्देह तू ब्रह्म के परिच्छिन्न रूप को ही जानता है।

शंका :— तो क्या ब्रह्म के बड़े और छोटे अनेकों रूप हैं, जिससे कि तू ब्रह्म के अल्परूप को ही जानता है, ऐसा आचार्य कह रहे हैं।

समाधान :— हाँ, नाम-रूपात्मक उपाधियों के कारण ब्रह्म के अनेक रूप हैं, स्वरूपतः नहीं क्योंकि "जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, नित्य और गन्धहीन है" इस श्रुति के अनुसार स्वरूपतः शब्दादि के सहित उसके रूपों का निषेध ही किया गया है।

---

१. शृण्वतां शिष्याणां मध्य इति निर्धारणे षष्ठी। २. यथावत्—पूर्णम्। ३. अयथावद्—अपूर्णम्। ४. विषमप्रतिपत्तित्वाद्दुर्बोधत्वाद्वस्तुन इत्यर्थः ५. अत उच्यते—कथं ब्रह्मणो रूपं नास्तीति मयाऽऽक्षिप्यत इति यावत्। ६. महीयमानः स्त्र्यादिभिः पूज्यमानश्चरति स्वप्नभोगाननुभवतीत्यर्थः। ७. एष संप्रसादो जीवोऽविद्यावस्थायां शरीरसाम्यमापन्नः केनचिदाचार्येण नासि त्वं देहादिधर्मा किन्तु तत्त्वमसीत्येव प्रतिबोधितो देहात्मभावनां हित्वा ब्रह्म प्राप्य स्वेन रूपेणभिनिष्पद्यत इत्यर्थः।

त्रयस्यैकविषयत्वेन संगत्यर्थम्। एवं हि सुपरिनिष्ठिता विद्या सफला स्यान्नानिश्चितेति [1]न्यायः प्रदर्शितो भवति। मन्ये विदितमिति परिनिष्ठितनिश्चितविज्ञानप्रतिज्ञा-हेतूक्तेः ।।९।।१।।

परिनिष्ठितं सफलं विज्ञानं प्रतिजानीत आचार्यात्मनिश्चययोस्तुल्यतायै। यस्माद्धेतु-माह नाह मन्ये सुवेदेति। अहेत्यवधारणार्थो निपातो नैव मन्य इत्येतत्। यावद-परिनिष्ठितं विज्ञानं तावत्सुवेद सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति विपरीतो मम निश्चय आसीत्। सोऽपजगाम भवद्भिर्विचालितस्य यथोक्तार्थमीमांसाफलभूतात्स्वात्मब्रह्मत्वनिश्चयरूपा-त्सम्यक्प्रत्ययाद्विरुद्धत्वात्। अतो नाह मन्ये सुवेदेति। यस्माच्च तन्नैव न

सर्वस्य प्रतिवचनवाक्यस्य तात्पर्यमुक्त्वा मन्ये विदितमित्यादिना, मन्ये विदितमित्येकदेशस्यार्थं संगृह्णाति ।।९।।१।।

संगृहीतं स्फुटयति— परिनिष्ठितमित्यादिना। विरुद्धत्वादिति। **विपरीतप्रत्ययस्य सम्यग्ज्ञानविरुद्धत्वात्तदुदयमात्राद्विपरीतप्रत्ययोऽपगत इत्यर्थः। न केवलं विपरीतप्रत्ययस्य संशयस्य वाऽभावान्मम निश्चितं विज्ञानमज्ञानाभावाच्चेत्याह—** अस्माच्चेति। **अथवा वेद चेत्यस्यान्योऽर्थः कथ्यते।**

शास्त्र, आचार्य एवं अपना अनुभव—इन तीनों प्रतीतियों का सम्बन्ध एक ही विषय में बतलाने के लिये कहा कि (मैं ब्रह्म को ज्ञात हुआ ही मानता हूँ)। इस प्रकार सुनिश्चित ज्ञान ही सफल होता है, अनिश्चित नहीं। इससे यह न्याय दिखलाया गया है, क्योंकि "मन्ये विदितम्" इस कथन से निश्चित विज्ञान की प्रतिज्ञा में हेतु कहा गया है।।१।।

आचार्य और अपने निश्चय में समानता बतलाने के लिये फल सहित परिनिष्ठित विज्ञान की प्रतिज्ञा शिष्य करता है क्योंकि उक्त अर्थ में ही **"नाह मन्ये सुवेद"** इस वाक्य से हेतु बतला रहा है (कहीं-कहीं पर 'नाह' ऐसा पाठ देखा जाता है, तदनुसार) **'अह'** यह निश्चयार्थक निपात है, जिसका अभिप्राय यह है कि (मैं ब्रह्म को अच्छी प्रकार जानता हूँ) ऐसा नहीं मानता जब तक मुझे यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ था, तभी तक "मैं ब्रह्म को अच्छी प्रकार जानता हूँ" ऐसा विपरीत निश्चय मुझे था। आपके द्वारा विचलित कराने पर अब मेरा यह भ्रमात्मक निश्चय दूर हो गया क्योंकि पूर्वोक्त अर्थ के विचार के फल स्वरूप अपनी आत्मा में ब्रह्मत्व निश्चय रूप यथार्थ ज्ञान से वह विरुद्ध जान पड़ता है। अतः मैं उसे अच्छी प्रकार जानता हूँ, ऐसा मैं नहीं मानता।

वैसे ही उस ब्रह्म को मैं नहीं जानता ऐसा भी मैं नहीं मानता, क्योंकि अविदित ब्रह्म का

---

१. न्यायः—नियमः।

भवति। तथा श्रोत्रादीनामन्तःकरणस्य च धर्मो न भवतीति। ब्रह्मणो रूपमिति। ब्रह्म रूप्यते चैतन्येन। तथा चोक्तम्— "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "विज्ञानघन एव" "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" "प्रज्ञानं ब्रह्म" इति च ब्रह्मणो रूपं निर्दिष्टं श्रुतिषु। सत्यमेवं तथाऽपि तदन्तः-करणदेहेन्द्रियोपाधिद्वारेणैव विज्ञानादिशब्दैर्निर्दिश्यते तदनुकारित्वाद्देहादिवृद्धिसंकोच-च्छेदादिषु नाशेषु च न स्वतः। स्वतस्त्वविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानता-

---

वा देहाकारपरिणतानां चैतन्यं धर्मो [१]**न भवतीति** [२]**बहिरनुपलम्भात्तद्धर्मत्वे रूपादिव**[३]**त्तत्साधकत्वा-भावप्रसङ्गाच्च। तथा श्रोत्रादीनामपि भौतिकत्वाविशेषाच्चैतन्यं धर्मो न भवतीति** [४]**पारिशेष्या-**[५]**त्स्वतन्त्रचैतन्यं ब्रह्मणो रूपम्। तत्र श्रुतिसंमतिमाह—** तथा चोक्तमिति। **सत्यमेवं चैतन्यं** [६]**पारमार्थिकं ब्रह्मरूपं श्रुतितात्पर्यगम्यं तथाऽपि यदुक्तं ब्रह्मणो रूपं कथं नास्तीति तदुपाधिद्वारेणैव ब्रह्मणः शब्देन निरूपणं निर्देशनं न स्वत इत्यभिप्रेत्या**[७]**न्तःकरणाद्यभिव्यक्तिमुपलभ्य हि यदुपाध्यभिव्यक्तिनिमित्तं चैतन्यं तद्ब्रह्मेति निर्देश्यत इत्यर्थः। ननूपाधिरुपहितसंबद्धो भवति चैतन्यस्य त्वसङ्गस्य कथं देहादिरुपाधिरित्याशङ्क्याऽऽह—** तदनुकारित्वादित्यादिना। **यथा जले कम्पमाने सविता कम्पत इव भिद्यमाने भिद्यत इवेति मिथ्यातद्धर्मभागित्वात्सवितुर्जलमुपाधिरित्युच्यते नतु संबन्धाद्दूरस्थयोः संयोगाद्ययोगात्। तद्वद्देहदेर्वृद्धिसंकोचच्छेदादिषु दाहादिषु नाशेषु चैतन्यस्य मिथ्यादेहधर्मभागित्वा-द्देहादेरुपाधित्वमभिधीयत इत्यर्थः। ननु न स्वतश्चैतन्यतया निरुप्यते ब्रह्म कथं तर्हि** [८]**तदनुभव इत्याशङ्क्याऽऽह—** स्वतस्त्विति। [९]**अविषयतयैव विषयानुपरक्तचित्स्फुरणं ब्रह्मानुभव इत्यर्थः।** तर्कतश्चेति।

जिस धर्म के द्वारा जिसका निरूपण किया जाता है, वही उसका स्वरूप माना जाता है। अतः जिस विशेषण से ब्रह्म का भी निरूपण किया जाएगा, वही उसका रूप माना जाएगा। इसीलिये कहते हैं कि पृथिवी आदि का अथवा उसके परिणाम स्वरूप समस्त पदार्थों में से किसी का भी धर्म चैतन्य नहीं है और न श्रोत्रादि इन्द्रियों या अन्तःकरण का ही धर्म चैतन्य है। परिशेषतः चैतन्य रूप से ब्रह्म का निरूपण होने के कारण वह चैतन्य ब्रह्म का ही रूप है। ऐसा ही "ब्रह्म विज्ञान और आनन्द स्वरूप हैं" "वह विज्ञान घन ही है" "ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अपरिच्छिन्न स्वरूप है" "प्रज्ञान ब्रह्म है" इन श्रुतियों में भी ब्रह्म का रूप बतलाया गया है।

समाधान :— यह कहना ठीक ही है, फिर भी वह अन्तःकरण, देह और इन्द्रिय रूप उपाधियों के द्वारा ही विज्ञानादि शब्दों से बतलाया गया क्योंकि देह आदि की वृद्धि, संकोच, उच्छेद और नाश आदि में वह उनका अनुकरण करता है किन्तु स्वतः वह ऐसा कुछ भी नहीं है, स्वतः तो वह जानने वाले के लिये अज्ञात और न जानने वालों के लिये ज्ञात माना जाता है। ऐसा निश्चय किया जाएगा।

---

१. न भवतीतीति पारिशेष्यादित्यन्वयः। २. न भवतीत्यत्र हेतुमाह—बहिरिति रूपादिवदिन्द्रियाग्राह्यत्वादिति यावत्। ३. तत्साधकत्वेति—तत्प्रकाशकत्वेति यावत्। ४. पारिशेष्यादिति—प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसंगाच्छिष्यमाणे संप्रत्ययः परिशेषः तस्मादित्यर्थः। प्रसक्तदेहेन्द्रियधर्मत्वप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसक्तेः शिष्यमाणे ब्रह्मणि तद्धर्मत्वसंप्रत्ययादिति। ५. स्वतन्त्रेति—देहाद्यधर्मत्वेन तदनधीनेत्यर्थः ६. पारमार्थिकमनौपाधिकमित्यर्थः। ७. ब्रह्मणश्चैतन्यनिर्देशस्योपाधिद्वारकत्वं स्फुटयन्नाह—अन्तःकरणेति। अन्तःकरणादीनामभिव्यक्तिर्भानम्। ८. तदनुभवः—निरुपाधिकब्रह्मानुभव इत्यर्थः। ९. सुलभः सोऽनुभवो संप्रज्ञाते समाधा-वित्याशयेनाह—अविषयतयैवेति।

वेदेति [१]मन्य इत्यनुवर्तते। [२]अविदितब्रह्मप्रतिषेधात्। कथं तर्हि मन्यस इत्युक्त आह-वेद च। चशब्दाद्वेद च न वेद चेत्यभिप्रायः। विदिताविदिताभ्यामन्यत्वाद्ब्रह्मणस्तस्मान्मया विदितं ब्रह्मेति मन्य इति वाक्यार्थः। अथवा वेद चेति नित्यविज्ञानब्रह्मस्वरूपतया नो न वेद वेदैव चाहं, स्वरूपविक्रियाभावात्। विशेषविज्ञानं च पराध्यस्तं न स्वत इति परमार्थतो न च वेदेति। यो नस्तद्वेद तद्वेदेतिपक्षान्तरनिरासार्थमाम्नाय उक्तार्थानुवादात्। यो नोऽस्माकं मध्ये स एव तद्ब्रह्म वेद नान्यः। उपास्यब्रह्म-

---

यद्यनित्यमात्मविज्ञानं स्यात्तर्हि तस्य प्रागभावकाले प्रध्वंसाभावकाले वाऽज्ञानं संभाव्येत नतु तदस्ति। नित्यं हि विज्ञानं ब्रह्म मम स्वरूपं ततो नो न वेद। यदि च वेदनं मम विक्रिया भवेत्तदा विक्रियायाः कादाचित्कत्वात्कदाचिदहं वेदेति शङ्क्येत, नतु तदस्ति, स्वरूपविज्ञानस्यान्यथात्वासंभवा[३]त्सदा वेदैवाहम्। [४]यथा स्वाभाविकाचलतया पर्वतास्तिष्ठन्तीति व्यपदेशस्तद्वदित्यर्थः। [५]स्वसत्तायां स्वयं प्रमेति स्वप्रकाशत्वमादाय [६]व्याख्यातं चशब्दार्थमाह— विशेषविज्ञानं चेति। आगमाद्विचारसहकृताज्जातं ब्रह्मात्मकताव्यञ्जकमन्तःकरणपरिणामरूपं ब्रह्मास्मीति विशेषविज्ञानं तत्परेणान्तःकरणेनोपाधिनाऽऽत्मन्यध्यस्तं न परमार्थतो ज्ञानवत्त्वमात्मन इति न वेद चेति घटत इत्यर्थः। [७]प्रकारान्तरेणापि ब्रह्मविज्ञानं संभवतीतिशङ्कानिरासार्थं वाक्यैकदेश इत्याह— यो नस्तद्वेद तद्वेदेति। इदं सूत्रवाक्यं विवृणोति— यो नोऽस्माकमिति। यो नोऽस्माकं मध्ये तद्विदिताविदितान्यत्वं वेदेति शेषः। [८]यथाऽहं

पहले प्रतिषेध किया जा चुका है। यहाँ पर "नो न वेदेति" इस वाक्य के आगे "मन्ये" इस क्रिया पद की अनुवृत्ति आती है। गुरु ने पूछा कि फिर किस प्रकार मानता है? इस पर शिष्य ने कहा— "वेद च" यहाँ पर 'चकार' शब्द से जानता भी हूँ और नहीं भी जानता। ऐसा अभिप्राय है क्योंकि ब्रह्म विदित और अविदित दोनों से भिन्न है। अतएव मुझे ब्रह्म विदित है, ऐसा अब मैं मानता हूँ। यही वाक्य का अभिप्राय है। अथवा 'वेद च' इसका अभिप्राय यों समझो कि "मैं नित्य विज्ञान ब्रह्मस्वरूप होने के कारण नहीं जानता" ऐसी बात नहीं किन्तु जानता ही हूँ क्योंकि स्वरूप में कोई विकार नहीं होता। साथ ही विशेष विज्ञान भी दूसरों से आरोपित ही होता है, स्वरूपतः नहीं। अतः परमार्थतः नहीं भी जानता हूँ। "यो नस्तद्वेद तद्वेद" उत्तरार्ध आगम पूर्वोक्त अर्थ का अनुवादक होने से शिष्य के

---

१. मन्य इत्यनुवर्तत इति—तथाच तद्ब्रह्म न वेदेति च नैव मन्य इति योजना। २. तत्र हेतुमाह—अविदितब्रह्मप्रतिषेधादिति। अविदितादधीत्यागमेन ब्रह्मणोऽविदितत्वस्य निषेधादित्यर्थः। न वेदेति मन्त्रादविदितत्वमुपगतं स्यादिति भावः। ३. सदा वेदैवाहमिति—तस्मादित्यादिः। ४. ननु स्वरूपविज्ञानस्यान्यथात्वासंभवादिति वेदनस्याविक्रियात्वमुक्त्वा सदा वेदैवाहमित्यात्मनो वेदनकर्तृत्वोक्तिः कथं संगच्छते तत्राह—यथेति। यथा पर्वतास्तिष्ठन्तीत्यत्र स्थितिक्रियाकर्तृत्वासंभवेन गत्यभाव एव लक्ष्यते तथा वेदैवेत्यवेदनाभावाभिप्रायकमित्यर्थः। ५. स्वसत्तायां स्वयं प्रमेति—नाहमस्मीति कदाप्यप्रतीतेरिति भावः। ६. व्याख्यातमिति—सदा वेदैवाहमित्येवं वेदेत्येव पदं व्याख्यातमित्यर्थः। ७. प्रकारान्तरेणापीति—विदितत्वादिना रूपेणापीत्यर्थः। ८. उपास्यब्रह्मवित्वादित्यादिवाक्यं योजयन्नन्यस्येति पदस्यार्थमाह—यथाहं वेदातोऽन्येन प्रकारेण विदुष इति।

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च।।१०।।२।।

ब्रह्म को अच्छी प्रकार जान लिया ऐसा भी मैं नहीं मानता हूँ और मैं उसे नहीं जानता हूँ, ऐसा भी नहीं समझता।अतः (ब्रह्म को) मैं जानता हूँ (और नहीं भी जानता हूँ)। हम शिष्यों में से जो कोई ब्रह्म को न तो नहीं जानता हूँ और जानता भी हूँ, इस प्रकार जानता है, वही (वस्तुतः ब्रह्म को) जानता है।।२।।

मिति स्थितं भविष्यति। यदस्य ब्रह्मणो रूपमिति पूर्वेण संबन्धः। न केवलमध्यात्मोपाधिपरिच्छिन्नस्यास्य ब्रह्मणो रूपं त्वमल्पं वेत्थ यदप्यधिदैवतोपाधिपरिच्छिन्नस्यास्य ब्रह्मणो रूपं देवेषु वेत्थ त्वं तदपि नूनं दहरमेव वेत्थेति मन्येऽहम्। यदध्यात्मं यदधिदैवं तदपि च देवेषूपाधिपरिच्छिन्नत्वाद्दहरत्वान्न निवर्तते। यत्तु विध्वस्तसर्वोपाधिविशेषं शान्तमनन्तमेकमद्वैतं भूमाख्यं नित्यं ब्रह्म न तत्सुवेद्यमित्यभिप्रायः। यत एवमथ नु तस्मान्मन्येऽद्यापि मीमांस्यं विचार्यमेव ते तव ब्रह्म। एवमाचार्योक्तः शिष्य एकान्त उपविष्टः समाहितः सन्यथोक्तमाचार्येणाऽऽगममर्थतो विचार्य तर्कतश्च निर्धार्य स्वानुभवं कृत्वाऽऽचार्य-सकाशमुपगम्योवाच-मन्येऽहमथेदानीं विदितं ब्रह्मेति।।९।।१।।

कथमिति। शृणुत। नाहं मन्ये सुवेदेति नैवाहं मन्ये सुवेद ब्रह्मेति। नैव तर्हि

वेद्यत्वे घटादिवदनात्मत्वादिप्रसङ्गादि[1]त्यादितर्कत आत्मनो वेद्यं न भवत्येवेति निर्धार्याज्ञानसंशयाद्यभावेन स्वानुभवं कृत्वेत्यर्थः ।।९।। ।।१।।

"यदस्य" इस पद समुदाय का पूर्ववर्ती **"ब्रह्मणो रूपम्"** के साथ सम्बन्ध समझना चाहिये। न केवल आध्यात्मिक उपाधि से परिच्छिन्न इस ब्रह्म के ही अल्प रूप को जानता है, बल्कि अधिदैव उपाधि से परिच्छिन्न हुए इस ब्रह्म के भी जिस रूप को तू देवताओं के भीतर जानता है, वह भी निःसन्देह इस ब्रह्म के अल्प रूप को ही जानता है, ऐसा मैं मानता हूँ क्योंकि जो अध्यात्मरूप और जो देवताओं में अधिदेव रूप है, वह भी उपाधि से परिच्छिन्न होने के कारण अल्पत्व से दूर नहीं है किन्तु समस्त उपाधि और विशेषणों से रहित शान्त, अनन्त, एक, अद्वैत, भूमा नामक नित्य ब्रह्म है, उसे समझना सुगम नहीं, यही इसका अभिप्राय है। जबकि ऐसी बात है, अतः अभी मैं तेरे लिये ब्रह्म को विचारणीय ही मानता हूँ। आचार्य के द्वारा इस प्रकार कहे जाने के बाद शिष्य ने एकान्त स्थान में बैठकर समाहित हो आचार्य से कहे गये आगम को अर्थ सहित विचार कर एवं तर्क द्वारा निश्चय कर आत्मा का अनुभव करने के बाद आचार्य के निकट जाकर कहा मैं ऐसा मानता हूँ कि अब ब्रह्म विदित हो गया है ।।१।।

यथार्थ अनुभव का उल्लेख

कैसे विदित हुआ? इस पर कहते हैं, सुनिये मैं ब्रह्म को अच्छी प्रकार जानता हूँ। ऐसा मैं

---

१. इत्यादितर्कत इति—आदिना आत्मत्वात्स्वप्रकाशत्वाच्चाविदितं न संभवति ब्रह्मेति तर्कनिश्चयो ग्राह्यः।

वित्त्वात् अतोऽन्यस्य यथाऽहं वेदेति पक्षान्तरे ब्रह्मवित्त्वं निरस्यते। कुतोऽयमर्थोऽवसीयत इत्युच्यते। उक्तानुवादादुक्तं ह्यनुवदति नो न वेदेति वेद चेति ।।१०।।२।।

यस्यामतमिति श्रौतमाख्यायिकार्थोपसंहारार्थम्। शिष्याचार्योक्तिप्रत्युक्तिलक्षणयाऽनुभवयुक्तिप्रधानयाऽऽख्यायिकया योऽर्थः सिद्धः स श्रौतेन वचनेना[१]ऽऽगमप्रधानेन [२]निगमनस्थानीयेन संक्षेपत उच्यते। यदुक्तं विदितादन्यद्वागादीनामगोचरत्वात्। मीमांसितं चानुभवोपपत्तिभ्यां ब्रह्म तत्तथैव [३]ज्ञातव्यं, कस्मात्। यस्यामतं यस्य

वेदातोऽन्येन प्रकारेण विदुष उपास्यब्रह्मवित्त्वादिति योजना। उक्तानुवादादिति। **अभ्यासाख्यतात्पर्यलिङ्गदर्शनादविषयतयैव ब्रह्मविज्ञानं विवक्षितमित्यर्थः।।१०।।२।।**

यस्यामतमितिवाक्यार्थं संगृहीतं व्याख्याति— शिष्याचार्येत्यादिना। **[४]श्रौतमिति शिष्यस्याऽऽचार्यस्य चोक्तिर्न भवतीतिख्यापनार्थम्। तेन श्रौतेन वचनेन [५]कथमुच्यत इत्याकाङ्क्षायामाह—** यदुक्तमिति। **यद्ब्रह्म विदितादन्यदुक्तमिति संबन्धः। [६]गोपालादीनामिवात्मतत्त्वं न विवक्षितं किंतु**

अनुभव पक्ष से अन्य पक्षों का निषेध करने के लिये है। हम में से जो भी कोई उस ब्रह्म को विदित और अविदित से भिन्न जानता है, वही वस्तुतः जानता है, दूसरा नहीं क्योंकि जैसा मैं जानता हूँ, उससे भिन्न प्रकार जानने वाला पुरुष उपास्यरूप कार्य ब्रह्म को ही जानता है। अतः **'वेद च'** इस पद से अन्य पक्ष वाले में ब्रह्मज्ञानित्व का निरास कर दिया गया है। ऐसा अभिप्राय कैसे निकाला जाता है? इसे बतलाते हैं— पूर्वोक्त अर्थ का अनुवादक होने के कारण ही निःसन्देह **"नो न वेदेति वेद च"** इस वाक्य से पूर्वोक्त अर्थ का अनुवाद ही तो कर रहे हैं।।२।।

"यस्यामतम्" इत्यादि श्रुति वाक्य इस (गुरु-शिष्य सम्वादरूप) आख्यान का उपसंहार करने के लिये है। शिष्य और गुरु का प्रश्न प्रतिवचन ही जिसका लक्षण है, ऐसी इस अनुभव और युक्तिप्रधान आख्यायिका से जो अर्थ सिद्ध हो चुका है, वही अब सबका उपसंहार करने वाले आगम प्रधान इस श्रुति वाक्य द्वारा संक्षेप में कहा जाता है। वाणी आदि इन्द्रियों का अविषय होने के कारण जिसे जाने हुए पदार्थों से भिन्न कहा गया था तथा अनुभव और युक्ति से भी जिसकी मीमाँसा की जा चुकी है; उस ब्रह्म को उसी प्रकार जानना चाहिये। कैसे? इस पर कहते हैं— जिज्ञासा से प्रेरित होकर प्रवृत्त होने वाले जिस साधक को ब्रह्म अविदित है अर्थात् आत्मतत्त्व निश्चयरूप फल प्राप्त हो

---

१. आगमप्रधानेति—आचार्यपरम्परोपदेश आगमस्तन्मात्रप्रधानेनेत्यर्थः। २. निगमनस्थानीयेन—उपसंहाररूपेणेत्येतत्। ३. ज्ञातव्यमिति—इति प्रत्यायनार्थमिति शेषः। ४. नन्विदं चेच्छ्रौतं पूर्वं तर्हि किं सर्वं पौराणिकं नेत्याह—श्रौतमितीति। सूत्र इत्यादिः। ५. कथमिति—किमर्थमित्यर्थः। ६. गोपालादीनामिवाप्ततत्त्वमज्ञानविषयत्वरूपं मन्तव्यम्। आत्मत्वेत्यादिभाष्यं व्याकर्तुमाह—गोपालादीनामिवेत्यादि।

विदितं त्वया ब्रह्मेत्युक्त आह—नो न वेदेति वेद च। वेद चेति च शब्दान्न वेद च। ननु विप्रतिषिद्धं नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद चेति। यदि न मन्यसे सुवेदेति कथं मन्यसे वेद चेति। अथ मन्यसे वेदैवेति। कथं न मन्यसे सुवेदेति। एकं वस्तु येन ज्ञायते तेनैव तदेव वस्तु न सुविज्ञायत इति विप्रतिषिद्धं संशयविपर्ययौ वर्जयित्वा। न च ब्रह्म संशयितत्वेन ज्ञेयं विपरीतत्वेन वेति नियन्तुं शक्यम्। संशयविपर्ययौ हि सर्वत्रानर्थकरत्वेनैव प्रसिद्धौ। एवमाचार्येण विचाल्यमानोऽपि शिष्यो न विचचाल। "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि" इत्याचार्योक्तागमसंप्रदायबलादुपपत्त्यनुभवबलाच्च जगर्ज च ब्रह्मविद्यायां दृढनिश्चयतां दर्शयन्नात्मनः। कथमित्युच्यते। यो यः कश्चिन्नोऽस्माकं सब्रह्मचारिणां मध्ये तन्मदुक्तं वचनं तत्त्वतो वेद स तद्ब्रह्म वेद। किं पुनस्तद्वचनमित्यत आह—नो न वेदेति वेद चेति। यदेवान्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीत्युक्तं वस्त्वनुमानानुभवाभ्यां संयोज्य निश्चितं वाक्यान्तरेण नो न

आचार्यवचनादन्यदेव वचनं शिष्य उवाचेति नाऽऽशङ्कनीयमित्याह— यदेवान्यदेवेति। **तथा**

नहीं मानता, तब तो ब्रह्म तुझे विदित ही नहीं है। ऐसा कहने पर शिष्य कहता है कि मैं नहीं जानता ऐसी बात नहीं। अतः जानता भी हूँ। मूल मन्त्र में **"वेद च"** इस वाक्यगत **'च'** शब्द से नहीं भी जानता, ऐसा अर्थ समझना चाहिये।

शंका :— मैं ब्रह्म को अच्छी प्रकार जानता हूँ और नहीं जानता हूँ, ऐसा भी नहीं मानता। अतः जानता हूँ और नहीं भी जानता हूँ। यह कथन परस्पर विरुद्ध है। यदि तू यह मानता नहीं कि उसे मैं अच्छी प्रकार जानता हूँ, तो फिर भला यह कैसे समझते हो कि मैं उसे जानता हूँ और यदि तू मानता है कि मैं उसे जानता ही हूँ, तो यह क्यों नहीं मानता कि मैं उसे अच्छी प्रकार जानता हूँ। संदिग्ध और विपरीत ज्ञान भले ही तुम्हारे कथनानुसार युक्तिसंगत हो, उनसे भिन्न जिसके द्वारा एक वस्तु जानी जाती है, उसीके द्वारा वह वस्तु अच्छी प्रकार नहीं जानी जाती; यह कथन उचित नहीं जान पड़ता और न ऐसा नियम बनाना ही शक्य है कि ब्रह्म संशय एवं विपर्यय ज्ञान से ही जानने योग्य है क्योंकि संशय और भ्रम सर्वत्र अनर्थकारक रूप से ही प्रसिद्ध है।

समाधान :— आचार्य द्वारा इस प्रकार विचलित करने पर भी "वह विदित से भी भिन्न है और अविदित से भी ऊपर है" इस आचार्य के बतलाये शास्त्र सम्प्रदाय के बल से एवं युक्ति और अनुभव के बल से शिष्य विचलित न हुआ। उसके विपरीत वह ब्रह्मविद्या में अपनी दृढ़ निश्चितता को दिखलाता हुआ गर्जन करने लगा। कैसे? इस पर कहते हैं कि ब्रह्मचारियों के सहित हम शिष्यों में जो-जो मेरे कहे हुए वचन को वास्तव में जानता है, वही इस ब्रह्म को जानता है।

फिर भला वह वचन है क्या? ऐसा प्रश्न करने पर शिष्य कहता है— मैं नहीं जानता, ऐसा भी नहीं है। अतः जानता भी हूँ। जिसे आचार्य ने "वह विदित से अन्य ही है और अविदित से भी परे है" इस वाक्य द्वारा कहा था। उसी वस्तु को अनुमान एवं अनुभव से मिलाकर निश्चित करके

विविदिषाप्रयुक्तप्रवृत्तस्य साधकस्यामतमविज्ञातमविदितं ब्रह्मेत्यात्मत्वनिश्चयफलावसानावबोधतया विविदिषा निवृत्तेत्यभिप्रायः। तस्य मतं ज्ञातं तेन विदितं ब्रह्म येनाविषयत्वेनाऽऽत्मत्वेन प्रतिबुद्धमित्यर्थः। स सम्यग्दर्शी यस्य विज्ञानानन्तरमेव ब्रह्मात्मभावस्या[१]वसितत्वा[२]त्सर्वतः कार्याभावो, [३]विपर्ययेण मिथ्याज्ञानो भवति। कथं? मतं विदितं ज्ञातं मया ब्रह्मेति यस्य विज्ञानं स मिथ्यादर्शी, विपरीतविज्ञानो विदितादन्यत्वाद्ब्रह्मणो न वेद स न विजानाति। ततश्च सिद्धमवैदिकस्य विज्ञानस्य मिथ्यात्वम्। अब्रह्मविषयतया [४]निन्दितत्वात्तथा कपिलकणभुगादि[५]समयस्यापि विदितब्रह्मविषयत्वादनवस्थिततर्कजन्यत्वाद्विविदिषाऽनिवृत्तेश्च मिथ्यात्वमिति। स्मृतेश्च-

"या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रोक्ता[६]स्तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः"

ब्रह्मण आत्मत्वनिश्चयफलावसानोऽवबोधो यस्य स तथोक्तस्तस्य भावस्तत्ता तया बुभुत्सा निवृत्ता। विचार्यमाणे ब्रह्मण [७]आत्मत्वेन पर्यवसानाद[८]तिरिक्तमन्तव्याभावादमतमित्यर्थः। अविज्ञातं विजानता-

---

जाने के कारण जिसकी ज्ञान विषयिणी जिज्ञासा निवृत्त हो चुकी है, उसी को वह ब्रह्म ज्ञात है। तात्पर्य यह कि आत्मस्वरूप होने के कारण जिसने ब्रह्म को अविषयरूप से जाना है, उसी ने उसे जाना है, क्योंकि विज्ञान प्राप्ति के अनन्तर ही सर्वत्र ब्रह्मभाव प्राप्त हो जाने के कारण जिसके कर्तव्य का अभाव हो जाता है, वही यथार्थ आत्मज्ञानी है। इसके विपरीत समझने वाला मिथ्याज्ञानी होता है। कैसे? (इसे बतलाते हैं) जिसे ऐसा विज्ञान है कि ब्रह्म मुझे ज्ञात है, वह विपरीत ज्ञान वाला मिथ्यादर्शी है, क्योंकि ब्रह्म तो विदित वस्तु से भिन्न ही है। अतः यह कहना ठीक ही है कि वह ब्रह्म को नहीं जानता है।

इससे वेद बाह्य विज्ञान का मिथ्यात्व सिद्ध हुआ क्योंकि वह ब्रह्म विषयक न होने से निन्दित है; इतना ही नहीं, प्रत्युत कपिल और कणाद आदि के सिद्धान्त भी ज्ञात ब्रह्मविषयक, अनवस्थित, तर्कजनित और जिज्ञासा का निवर्तक न होने के कारण मिथ्या ही है। इसीलिये "जो वेद बाह्य स्मृतियाँ हैं एवं जो भी कोई कुदृष्टियाँ हैं, वे सभी निष्काम कहे गये हैं और सब के सब अज्ञाननिष्ठ माने गये

---

१. अवसितत्वादिति—पूर्णतया निश्चितत्वादित्यर्थः। ज्ञातुमनवशिष्टत्वादिति वा। २. सर्वतः कार्याभाव इति—इह वा परत्र वा फलाय कर्तव्याभाव इत्यर्थः। कर्तृत्वाद्यध्यासनिवृत्तिरिति यावत्। कार्यस्य प्रपञ्चस्याभावो मिथ्यात्वनिश्चय इति वा। पूर्वमेव तु सम्यक्। ३. विपर्ययेणेति—कार्याभावाभावे त्विति यावत्। ४. या वेदबाह्या इत्यादिवक्ष्यमाणस्मृतिं स्मरन्नाह—निन्दितत्वादिति। ५. समयस्येति—दर्शनस्येति यावत्। ६. तमोनिष्ठा इति—अज्ञानमूलकत्वेन मिथ्याभूता इति यावत्। ७. आत्मत्वेन पर्यवसानादिति— आत्मनश्च वेदनैकरूपतया मतत्वासंभवादिति भावः। ८. पर्यवसानादित्यन्तस्य हेतुमन्तं हेतुमाह—अतिरिक्तमन्तव्याभावादिति। आत्मातिरिक्तस्य मन्तव्यस्य ब्रह्मणोऽभावादित्यर्थः।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।।११।।३।।

जिस (ब्रह्मवेत्ता)को ब्रह्म अविदित है, उसी को ब्रह्म वस्तुतः विदित है (ऐसा समझना चाहिये और) जिसे ब्रह्म विदित है वह (वस्तुतः उसे) नहीं जानता (क्योंकि वह ब्रह्म) जानने वालों को अविज्ञात रहता है और न जानने वाले को ज्ञात होता है (अर्थात् अन्य वस्तु की भाँति फलव्याप्ति का विषय न होने से और ब्रह्माकार वृत्ति का भी साक्षी होने से ऐसा कहा गया है; अतः विद्वानों की दृष्टि में स्वयं प्रकाश वह सदा अविषय ही माना गया है) ।।३।।

वेदेति वेद चेत्यवोचदाचार्यबुद्धिसंवादार्थं [1]मन्दबुद्धिग्रहणव्यपोहार्थं च। तथ च गर्जितमुपपन्नं भवति यो नस्तद्वेदेति ।।१०।।२।।

शिष्याचार्यसंवादात्प्रतिनिवृत्य स्वेन रूपेण श्रुतिः समस्तसंवादनिर्वृत्तमर्थमेव बोधयति—यस्याम-तमित्यादिना। यस्य ब्रह्मविदोऽमतमविज्ञातमविदितं ब्रह्मेति मतमभिप्रायो निश्चयस्तस्य मतं ज्ञातं सम्यग्ब्रह्मे-त्यभिप्रायः। यस्य पुनर्मतं ज्ञातं विदितं मया ब्रह्मेति निश्चयो न वेदैव स न ब्रह्म विजानाति सः। विद्वदविदुषोर्य-थोक्तौ पक्षाववधारयति-अविज्ञातममतमविदितमेव ब्रह्म, विजानतां सम्यग्विदितवतामित्येतत्। विज्ञातं विदितं ब्रह्माविजानतामसम्यग्दर्शिनामिन्द्रियमनोबुद्धिष्वेवाऽऽत्मदर्शिनामित्यर्थः। न त्वत्यन्तमेवाव्युत्पन्नबुद्धीनाम्। न हि तेषां विज्ञातमस्माभिर्ब्रह्मेति मतिर्भवति। इन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिष्वात्मदर्शिनां तु ब्रह्मोपाधिविवेकानु-

---

चेत्याचार्यबुद्धिसंवादे सत्यर्थान्तरानभिधाने सतीत्यर्थः।।१०।।२।।

आचार्य की बुद्धि संवादार्थ एवं मन्द बुद्धि पुरुषों की बुद्धि से ग्रहण विषयत्व को हटाने के लिये मैंने कहा कि मैं उसे नहीं जानता, ऐसा भी नहीं है अर्थात् जानता भी हूँ, इस प्रकार कहा है। ऐसा होने पर ही हम में से जो भी कोई इस वाक्य के रहस्य को जानता है, वही जानता है। यह गर्जना उचित ही है।।२।।

ब्रह्मवेत्ता अज्ञ है और अज्ञ ज्ञानी है

जिस ब्रह्मवेत्ता का ऐसा निश्चय है कि ब्रह्म अविदित है, उसे ब्रह्म ठीक-ठीक ज्ञात हो गया है, ऐसा इसका अभिप्राय है और जिसका ऐसा निश्चय है कि ब्रह्म विदित हो गया है, उसे ब्रह्म का ज्ञान ही नहीं है अर्थात् वह ब्रह्म को वास्तव में जानता ही नहीं है। अब **"अविज्ञातं विजानताम्"** इत्यादि वाक्य से विद्वान् और अविद्वान् के पूर्वोक्त पक्षों का निश्चय कराते हैं अर्थात् भली प्रकार जानने वालों का (ज्ञानाविषय होने के कारण) वह ब्रह्म अविदित ही है। इसके विपरीत मन, इन्द्रिय बुद्धि आदि में आत्मभाव रखने वाले अयथार्थदर्शी के लिये ब्रह्म ज्ञेय माना जाता है, जो सर्वथा अव्युत्पन्न है, उनके लिये ऐसी बात नहीं कही जा रही है क्योंकि उन्हें तो हमने ब्रह्म को जान लिया, ऐसी बुद्धि होती ही नहीं किन्तु इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि उपाधियों में आत्मभाव रखने वाले को ब्रह्म एवं उपाधि के भेद ज्ञान न होने के कारण तथा बुद्धि आदि उपाधियों के ज्ञात होने के कारण ब्रह्म

---

१. मन्देति—अगर्जने हि मन्दबुद्धिरसौ मौनावलम्बनादित्याचार्यस्य बुद्धिः स्यात्तन्निरसनार्थमित्यर्थः।

इति। [१]विपरीतमिथ्याज्ञानयोरनिष्टत्वादिति। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम-विजानतामिति पूर्वहेतूक्तिरनुवादस्याऽऽनर्थक्यात्। अनुवादमात्रेऽनर्थकं वचनमिति पूर्वोक्तयोर्यस्यामतमित्यादिना ज्ञानाज्ञानयोर्हेत्वर्थत्वेनेदमुच्यते। अविज्ञातमविदितमात्मत्वे-नाविषयतया ब्रह्म विजानतां यस्मात्तस्मात्तदेव ज्ञानं, यत्तेषां विज्ञातं विदितं व्यक्तमेव बुद्ध्यादिविषयं ब्रह्माविजानतां विदिताविदितव्यावृत्तमात्मभूतं नित्यविज्ञानस्वरूप-मात्मस्थमविक्रियममृतमजरमभयमनन्यत्वादविषयमित्येवमविजानताम्। बुद्ध्यादिविषया-त्मतयैव नित्यं विज्ञातं ब्रह्म। तस्माद्विदिताविदितव्यक्ताव्यक्तधर्माध्यारोपेण [२]कार्यकारण-भावेन च सविकल्पम[३]यथार्थविषयत्वात्। शुक्तिकादौ रजताद्यध्यारोपणज्ञानव-

---

मित्युत्तरार्धस्यार्थं संगृहीतं विवृणोति— अनुवादमात्र इत्यादिना। हेत्वर्थत्वेनेति। **अयमर्थः—**[४]**पूर्वेषां ब्रह्म विजानतामविज्ञातत्वेनैव ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वादिदानीमप्यविषयतया ज्ञानं तथा** [५]**पूर्वेषामविदुषां विज्ञातत्वेनैव ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वादिदानीमपि विषयतया ज्ञानमसम्यग्ज्ञानमिति।** [६]**बुद्ध्यादिविषयं तद्रूपतया** [७]**बुद्धिरात्मा मन आत्मेन्द्रियमात्मेति विज्ञातं वेदबाह्यानां ब्रह्म बौद्धादीनां प्रसिद्धं** [८]**तत इदानी-**

हैं" इस स्मृति वाक्य से भी विपरीत ज्ञान और मिथ्या ज्ञान को अनर्थ का कारण बतलाया गया है।

"अविज्ञातं विजानतां विज्ञातं विजानताम्" यह उत्तरार्द्ध वाक्य इसी मन्त्र के पूर्वार्द्ध में कहे गये अर्थ का साधक हेतु है, क्योंकि पूर्वोक्त का अनुवाद करना निष्प्रयोजन है। अनुवाद मात्र के लिये कुछ कहना निष्प्रयोजन ही माना जाता है। अतः **"यस्यामतम्"** इत्यादि पूर्वार्द्ध से कहे गये हुये ज्ञान और अज्ञान के साधक हेतुरूप से ही यह उत्तरार्द्ध वाक्य कहा गया है क्योंकि आत्मस्वरूप होने के कारण इन्द्रियों का अविषय होने से ज्ञानियों को ब्रह्म अविदित है। अतः वही ज्ञान है और जो अज्ञानी है अर्थात् जो ऐसा नहीं जानते कि विदित और अविदित पदार्थों से भिन्न अपना आत्मा नित्य विज्ञान स्वरूप आत्मस्थ, निर्विकार, अमर, अजर, अभय और अनन्य रूप होने के कारण वह ब्रह्म किसी भी इन्द्रियों का विषय नहीं है। उन्हीं को ब्रह्म बुद्धि आदि के विषयरूप से ही विदित प्रतीत होता है क्योंकि उन्हें सदा बुद्धि आदि के विषयरूप से ही ब्रह्म का ज्ञान होता है। अतः विदित अविदित अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त आदि धर्मो के आरोप से कार्य-करण भाव रूप में जाना हुआ ब्रह्म सविकल्प ही है क्योंकि वह यथार्थ ब्रह्म विषयक नहीं है। अतः शुक्ति में कल्पित रजत आदि ज्ञान के समान उनका वह

---

१. नन्वेवमवैदिकादिज्ञानानि कुतः स्मृत्या निन्द्यन्ते तत्राह—विपरीतमिथ्याज्ञानयोरनिष्टत्वादिति। २. कार्यकारणभावेनेति—सिद्धान्ते कार्यस्य मिथ्यात्वेन ब्रह्मणि कारणत्वस्यापि तथात्वाच्छ्रौतं तत्त्वज्ञानं कारणत्वानवगाहित्वेन निर्विकल्पमेवेति भावः। ३. अयथार्थविषयत्वादिति—तत इत्यादिः। ४. पूर्वेषामिति—याज्ञवल्क्यादीनामित्यर्थः। ५. पूर्वेषामविदुषामिति—बौद्धादीनामित्यर्थः। ६. बुद्ध्यादिविषयमित्यस्य बुद्ध्यादिरूपतया विज्ञातमित्यर्थ इत्यभिप्रायेणाह—बुद्ध्यादिविषयं तद्रूपतयेति। विज्ञातमिति सम्बन्धः। बुद्धिरात्मेत्येवमादिरूपेण बुद्ध्यादिरूपतया विज्ञातत्वाद्बुद्ध्यादिविषयमित्युक्तमित्यर्थः। विषयशब्दोऽत्राभेदाभिप्रायक इति यावत्। ७. बुद्ध्यादित्वेन विज्ञानस्याकारमाह—बुद्धिरात्मेत्यादिना। ८. बुद्ध्यादिविषयेत्यादिरर्थमाह—तत इदानीमपीत्यादिना।

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ।।१२।।४।।

जो बोध-बोध के प्रति (प्रत्येक बोध में प्रत्यगात्मा रूप से) विदित है, वही ब्रह्म है और यही उस ब्रह्म का ज्ञान है। ऐसे ब्रह्मज्ञान से ही अमरत्व को प्राप्त करता है। अमरत्व नित्य आत्मस्वरूप से ही प्राप्त होता है, ब्रह्माकार वृत्तिरूप से तो आवरण निवृत्त करने का सामर्थ्य मात्र मिलता है (अर्थात् विद्या से आवरण की निवृत्ति होने पर अमरत्व नित्य चैतन्य आत्मस्वरूप से ही मिलता है; अन्य से नहीं)।।४।।

पलम्भाद्बुद्ध्याद्युपाधेश्च विज्ञातत्वाद्विदितं ब्रह्मेत्युपपद्यते भ्रान्तिरित्यतः सम्यग्दर्शनपूर्वपक्षत्वेनो-पन्यस्यते विज्ञातमविजानतामिति। अथवा हेत्वर्थ उत्तरार्धोऽविज्ञातमित्यादिः। ।।११।।३।।

अविज्ञातं विजानतामित्यवधृतम्। यदि ब्रह्मात्यन्तमेवाविज्ञातं लौकिकानां ब्रह्मविदां चाविशेषः प्राप्तः। अविज्ञातं विजानतामिति च परस्परविरुद्धम्। [१]कथं तु

अथवा हेत्वर्थ इति। **लोके शुक्त्यादितत्त्वं विजानतां यतोऽध्यस्तं रूप्याद्यविज्ञातं भवति। अजानतामेव त्वध्यस्तं विज्ञातं भवतीति प्रसिद्धम्। तथा ब्रह्मणि ज्ञेयत्वस्याध्यस्तत्वादेव तत्त्वविदो न ज्ञातं ब्रह्म पश्यन्तीत्यर्थः ।।११।।३।।**

[२]ज्ञातब्रह्मत्वादर्शने ब्रह्मास्मीति [३]कथं व्यवहरतीति चेत्[४]किमनयेष्टकावाहकानां रत्नपेटकचिन्तया [५]ज्ञातस्य व्यवहाराङ्गत्वं वदतोऽपि [६]वस्तुप्रकाशस्य व्यवहाराङ्गत्वस्ये[७]ष्टत्वा[८]द्वास्तवज्ञातताऽनपेक्षकत्वा-दित्यव्युत्पन्नव्युत्पादनाय चोद्यमुद्भावयति– अविज्ञातमित्यादिना। **नीलपीताद्याकाराणां बुद्धि-**

विदित है, ऐसा भ्रम हो ही सकता है। अतः **"विज्ञातम् अविजानताम्"** इस वाक्य द्वारा यहाँ पर पूर्व पक्ष रूप से अयथार्थ ज्ञान का वर्णन किया गया है अथवा (इस मन्त्र के पूर्वार्ध द्वारा कहे गये अर्थ की पुष्टि के लिये) **"अविज्ञातं विजानताम्"** इत्यादि उत्तरार्ध हेतु अर्थ में कहा गया है ।।३।।

प्रत्येक बोध में ब्रह्म का अनुभव

"ब्रह्म जानने वालों को अविज्ञात है" ऐसा निश्चय किया गया। यदि ब्रह्म सर्वथा अविज्ञात ही है तो लौकिक पुरुष और ब्रह्मज्ञानियों में कोई भेद नहीं रह जाता। इसके अतिरिक्त "जानने वालों को अविदित है" यह कथन परस्पर विरुद्ध भी है। (साथ ही यह भी बतलाना पड़ेगा।) कि वह ब्रह्म सम्यक्

---

१. एवं शङ्काकुलितमनाः पृच्छति–कथं त्विति। २. ज्ञातब्रह्मत्वादर्शन इति–ब्रह्मणो ज्ञातत्वानवबोध इत्यर्थः। ३. कथं व्यवहरतीति–ज्ञातस्यैव व्यवहारविषयत्वादिति भावः। तथा चायं प्रयोगो ब्रह्म ज्ञातं भवितुमर्हति व्यवहाराङ्गत्वाद्घटवदिति। ४. किमनयेति–न हीष्टकावदेव रत्नमञ्जूषोह्यत इति भावः। ५. ज्ञातत्वं यदि कल्पितं साध्यते तदेष्टापत्तिः वास्तवं चेदप्रयोजको हेतुः प्रकाशमात्रेणैवोपपन्नत्वात्। ज्ञातत्वप्रकाशितत्वयोरैक्यमादाय स्वतः प्रकाशे सूर्यादौ व्यभिचारश्चेत्यभिप्रेत्याह–ज्ञातस्येत्यादि। ६. वस्तुप्रकाशस्येति–स च स्वतः परतो वेत्यनियमः। ७. इष्टत्वादिति–प्रकाशमन्तरेण ज्ञातत्वानिर्वाहादिति भावः। प्रकाशेनैव च व्यवहारसिद्धौ वास्तवज्ञातताऽपेक्षायां कारणाभावादिति भावः। ८. वास्तवेति–प्रकाशस्य स्वतस्त्वे ज्ञातत्वारोपसंभवेऽपि वास्तवज्ञातत्वासंभवादिति भावः। स्वभिन्नज्ञानविषयत्वं घटादौ वास्तवं ज्ञातत्वम्।

न्मिथ्याज्ञानं तेषाम् ।।११।।३।।

प्रतिबोधविदितं मतमिति। [1]वीप्साप्रत्ययानामात्मावबोधद्वारत्वाद्बोधं प्रति बोधं प्रतीति वीप्सा सर्वप्रत्ययव्याप्त्यर्था। [2]बौद्धा हि सर्वे प्रत्ययास्तप्तलोहवन्नित्यविज्ञान-स्वरूपा[3]त्मव्याप्तत्वाद्विज्ञानस्वरूपावभासास्तदन्यावभासश्चाऽऽत्मा तद्विलक्षणोऽग्निवदुपल-भ्यत इति तेन ते द्वारीभवन्त्यात्मोपलब्धौ। तस्मात्प्रतिबोधावभासप्रत्यगात्मतया

मपि तन्मतानुसारिणां भ्रान्तानामेव बुद्ध्यादिविषयमनात्मरूपमात्मतयाऽभिमतमित्यर्थः ।।११।।३।।

केन द्वारेण तर्ह्यविषयतयाऽऽत्माऽवगम्यतामित्याकाङ्क्षायामाह—प्रतिबोधेति। संग्रहवाक्यं विवृणोति—बोधं प्रतीत्यादिना। [4]यथाऽस्मिञ्शरीरे बुद्धिपरिणामा जडा अपि चिद्व्याप्ततया संवेदनवदवभासन्त इति संभाव्यते। जडानां स्वाभाविकप्रकाशानुपपत्तेः। [5]तथा सर्वशरीरेषु बौद्धाः प्रत्यया यद्व्याप्ततया संवेदनव-द्भासन्ते सोऽस्तीति संभाव्यते। [6]एतदुक्तं भवति। [7]श्रोतृशरीरावच्छिन्नबौद्धप्रत्ययसाक्ष्येकस्त्वमर्थः। तदितरसर्वशरीरावच्छिन्नबौद्धप्रत्ययसाक्ष्येकस्तदर्थः। [8]चिन्मात्रे व्यावर्तकधर्मानुपलम्भाद्विभक्तत्वे चानात्मत्वादिदोषप्रसङ्गा[9]त्संभावितमे[10]कत्वं तदेव ब्रह्म त्वमितिवाक्यजबुद्धि[11]वृत्ताव[12]विषयतया प्रकाशते[13]ब्रह्मास्मीति। यस्मात्तानन्याञ्जडानवभासयतीति तदन्यावभास आत्मा सर्वजडविलक्षणो [14]ऽवगन्तुं शक्यते तस्मादित्युपसंहारः। प्रतिबोधमवभासाश्रितप्रतिबिम्बास्तेषां प्रत्यगात्म-

ब्रह्म विषयक ज्ञान मिथ्या ही है ।।३।।

"प्रतिबोधविदितम्" यह द्विरुक्ति है क्योंकि सभी प्रतीतियाँ आत्मबोध के द्वारा हैं। बोध-बोध के प्रति यह द्विरुक्ति सभी प्रतीतियों में ब्रह्म की व्याप्ति बतलाने के लिये है। अग्नि से तपे हुए लोह पिण्ड के समान बुद्धिजनित सम्पूर्ण बौद्ध प्रतीतियाँ नित्य विज्ञान स्वरूप आत्मा से व्याप्त होने के कारण उस विज्ञान स्वरूप आत्मा से ही प्रकाशित हैं और उन बौद्ध प्रतीतियों से भिन्न उनका प्रकाशक आत्मा (लोह पिण्ड में व्याप्त) अग्नि की भाँति उनसे सर्वथा विलक्षण उपलब्ध होता है। इसीलिये वे बौद्ध

१. वीप्सेत्यादि—प्रत्ययानामात्मावबोधद्वारत्वमात्मव्याप्यत्वाद्व्याप्योक्तौ च वीप्सागर्भीभवत्येव यत्र यत्र धूम इत्यादिदर्शनादिति भावः। २. व्याप्तिं व्यञ्जँस्तया व्यापकोपलब्ध्युक्त्या यथोक्तद्वारतां स्फुटयति—बौद्धा हीत्यादिना। ३. आत्मव्याप्तत्वादिति—व्याप्तिरिह तादात्म्यं तथा च तादात्म्यापन्नत्वादित्यर्थः। तप्तलोहवदितिदृष्टान्तानुरोधात्। ४. यथाऽस्मिन्निति—बुद्धिपरिणामाश्चिद्व्याप्ता अचित्त्वे सति तद्वदवभासमानत्वाद् यदतत्त्वे सति तद्वदवभासते तत्तद्व्याप्तं, प्रतप्तायःशलाकावदिति भावः। ५. शरीरान्तरेष्वपि बौद्धप्रत्ययाननुमाय तत्र चिद्व्याप्तिरनुमेयेत्याह—तथेति। ६. नन्वेवं प्रतिदेहं भिन्नभिन्नतया साक्षित्वेनात्मानुमितिरेव न मुमुक्ष्वपेक्ष्यं ब्रह्मज्ञानं ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वात् साक्षात्कारात्मकज्ञानस्यैव च मोक्षफलकत्वादित्याशङ्कां प्रणोत्स्यन् भाष्यमुद्घाटयति—एतदुक्तं भवतीति। ७. वाक्यार्थबोधानुगुण्यायैवैकमपि साक्षिणं द्वैराश्येन विभजति—श्रोतृशरीरेत्यादिना। ८. अर्थयोरभेदमनुभावयति—चिन्मात्र इत्यादिना। ९. संभावितमित्यनुमितमित्यर्थः। तथा च प्रयोगौ साक्ष्येको व्यावर्तधर्माभावद् व्यतिरेकेण घटादिवत्, साक्ष्यविभक्त आत्मत्वात्तद्वदिति। १०. एकत्वमिति—तयोरित्यादिः प्रकाशत इति संबन्धः। ११. वृत्ताविति—विषयसप्तमी सत्यामिति तु न जन्यत्वस्य वाक्यजेत्युक्तत्वात्। वृत्तिसंबन्धस्य चाभीष्टत्वात्। १२. अविषयतयेति—अचिद्भास्यतया साक्षित्वेनेति यावत्। यथाऽऽदित्यश्चाक्षुषवृत्तावादित्यान्तराद्यविषयत्वेन प्रकाशते तद्वदित्यर्थः। १३. प्रकाशमभिनयति—ब्रह्मास्मीतीति। एवं चैकत्वं प्रकाशत इत्यस्याद्वितीयं ब्रह्म प्रकाशत इत्यर्थः। वाक्यजवृत्तौ प्रकाशत इति च साक्षात्कारत्वोक्तिरिति ध्येयम्। १४. अवगन्तुं शक्यत इति—आत्मा सर्वजडविलक्षणस्तदवभासकत्वाद्घटाद्यवभासकभानुवदित्येवम्।

तद्ब्रह्म सम्यग्विदितं भवतीत्ये[१]वमर्थमाह-प्रतिबोधविदितं बोधं बोधं प्रति विदितम्। बोधशब्देन बौद्धाः प्रत्यया उच्यन्ते। सर्वे प्रत्यया विषयी भवन्ति यस्य स आत्मा सर्वबोधान्प्रतिबुध्यते सर्वप्रत्ययदर्शी चिच्छक्तिस्वरूपमात्रः प्रत्ययैरेव प्रत्ययेष्वविशिष्टतया लक्ष्यते नान्यद्द्वारमात्मनो विज्ञानायातः प्रत्ययप्रत्यगात्मतया विदितं ब्रह्म यदा तदा तन्मतं तदा तत्सम्यग्दर्शनमित्यर्थः। सर्वप्रत्ययदर्शित्वे चोपजननापायवर्जितदृक्स्वरूपतानित्यत्वं विशुद्धस्वरूपत्वमात्मत्वं निर्विशेषतैकत्वं च सर्वभूतेषु सिद्धं भवेत्। लक्षणभेदाभावद्व्योम्न इव घटगिरिगुहादिषु। विदिताविदिताभ्यामन्यद्ब्रह्मेत्यागमवाक्यार्थः, एवं परिशुद्ध एवोपसंहृतो भवति। "दृष्टेर्द्रष्टा श्रुतेः श्रोता मतेर्मन्ताविज्ञातेर्विज्ञाता" इति हि श्रुत्यन्तरम्। यदा पुनर्बोधक्रियाकर्तेति बोधक्रियालक्षणेन

विकाराणां जडानां यच्चैतन्यव्याप्तत्वेनाजडवदवभासस्तं साक्षिणमुपलक्ष्य सोऽहमात्मा ब्रह्मेतिमहावाक्यादविषयतयैव यो वेत्ति स ब्रह्मविदुच्यते। तेन नाविशेषप्रसङ्गादिचोद्यावकाश इत्याह—प्रतिबोधविदितमिति। **प्रत्ययेष्वविशिष्टतयाऽनुगतरूपेणेत्यर्थः। येन चित्स्वरूपेणाहमत्र साक्षी तस्य सर्वत्राविशेषान्नैकस्मिन्नेव देहेऽहं साक्षी भेदोत्पत्त्यादीनां च साक्ष्यगतत्वेन साक्षिण एकत्वनित्यत्वादिकमपि सिध्यतीत्याह**—सर्वप्रत्ययदर्शित्वे चेति। **विदितत्वाविदितत्वयोः साक्ष्यगतत्वेन तदन्यत्वमप्यस्मिन्पक्षे संभवतीत्याह**—विदिताविदिताभ्यामन्यदिति। **एकदेशिव्याख्यानमुद्भाव्य दूषयति**—यदा पुनरित्यादिना। **अग्निसंयोगाद्घटलौहित्यवन्मनःसंयोगादसमवायिकारणादात्मन्य-**

प्रकार से ज्ञात कैसे होता है? इसी बात को बतलाने के लिये अग्रिम श्रुति है।

बोध-बोध के प्रति वह ब्रह्म विदित होता है। बोध शब्द से बुद्धि में प्रतिफलित ज्ञान को ही कहा गया है। अतः समस्त बोध्य प्रत्यय जिसके विषय होते हैं, वह आत्मा सभी बोधों के समय (प्रकाशरूप से) जाना ही जाता है क्योंकि सम्पूर्ण प्रतीतियों का द्रष्टा और चेतनशक्ति स्वरूप मात्र होने के कारण सभी प्रतीतियों में वह उन प्रतीतियों द्वारा ही सामान्य रूप से लक्षित होता रहता है। उस अन्तरात्मा विज्ञान के लिये कोई दूसरा मार्ग नहीं है। अतः प्रतीतियों के भीतर साक्षी रूप से ब्रह्म जब जाना जाता है, तब यथार्थतः ज्ञात होता है। यही उसका यथार्थ ज्ञान है। सभी प्रतीतियों के द्रष्टा होने पर ही वृद्धि-क्षय से रहित दृग्रूपता, नित्यता, विशुद्ध स्वरूपता, आत्मता, निर्विशेषता और सम्पूर्ण भूतों में एकता सिद्ध हो सकती है। जैसे लक्षण में भेद न होने से घट, पर्वत और गुफा आदि में आकाश का भेद नहीं है, ऐस ही "विदित और अविदित दोनों से ही भिन्न है" इस आगम वाक्य के अर्थ का ही परिशोधन कर यहाँ पर उपसंहार किया गया है। ऐसे ही 'वह दृष्टि का द्रष्टा है, श्रुति का श्रोता है, मति का मन्ता और विज्ञातृ का विज्ञाता है' ऐसी दूसरी श्रुति भी कह रही है।

जैसे जो वृक्ष की शाखाओं को चलाता है, उसे वायु कहते हैं, वैसे ही जिस समय **"प्रतिबोध-**

---

१. इत्येवमर्थमुक्तशङ्कानिवृत्त्यर्थमित्यर्थः।

यद्विदितं तद्ब्रह्म तदेव मतं ज्ञातं [१]तदेव सम्यग्ज्ञानं यत्[२]प्रत्यगात्मविज्ञानं न [३]विषयविज्ञानम्। आत्मत्वेन। प्रत्यगात्मानमैक्षदिति च काठके। अमृत्वं हि विन्दत इति हेतुवचनं विपर्यये मृत्युप्राप्तेः। विषयात्मविज्ञाने हि मृत्युः प्रारभत इत्यात्मविज्ञानम-मृतत्वनिमित्तमिति युक्तं हेतुवचनममृतत्वं हि विन्दत इति। आत्मज्ञानेन किममृतत्व-मुत्पाद्यते। न। कथं तर्हि। आत्मना विन्दते स्वेनैव [४]नित्यात्मस्वभावेनामृतत्वं

तयाऽव्यभिचरितस्वरूपेण [५]बिम्बस्थानीये[६]नैकेन रूपेण यद्ब्रह्मवेदनं तत्सम्यग्दर्शनमित्यर्थः। विषय-विज्ञानं सम्यग्ज्ञानं न भवतीत्यत्र हेतुमाह—आत्मत्वेनेति। **ब्रह्मण आत्मत्वेन विषयत्वासंभवादित्यर्थः। [७]अद्वयानन्दरूपस्य [८]सर्वज्ञत्वादिधर्मकस्य ब्रह्मणः शास्त्रैकसमधिगम्यत्वा[९]त्तटस्थस्यापरोक्षत्वं न संभवति किंतु प्रत्यग्रूपेणैवेत्यभिप्रेत्य काठकेऽपि [१०]विशेषणमित्यर्थः। [११]प्रत्यक्तयाऽपरोक्षं ब्रह्मज्ञानं तदेव सम्यग्ज्ञान[१२]मित्यत्र को हेतुरित्याशङ्क्यापरोक्षबन्धाध्यासस्य परोक्षज्ञानान्निवृत्त्यसंभवादपरोक्षज्ञानस्य च तन्निवर्तनेनामृतत्वसाधनत्वादित्युत्तरवाक्यार्थं संगृह्णाति**—अमृतत्वं हीति। **सूत्रं विभजते**—विषयात्मेति। **विषयेषु बुद्ध्यादिष्वात्मविज्ञाने विषयतया वा व्यतिरिक्तस्योपास्यतया ज्ञाने मृत्युः प्रारभते भयमिति प्रसिद्धं बुद्ध्यादिसंघातमात्मानं मन्यमानस्योपासकस्य च कर्तृत्वभ्रमानिवृत्तेः। "अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति" इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। "तरति शोकमा-**

प्रतीतियाँ आत्मा की उपलब्धि में द्वार रूप हैं। अतः प्रत्येक बौद्ध प्रतीतियों के प्रकाश के समय जो उसके प्रत्यगात्म रूप से जाना जाता है, वही ब्रह्म है और वही ज्ञात है एवं सम्यक् ज्ञान के सहित प्रत्यगात्मा का ज्ञान वही है। विषयों का विज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं है "आत्मरूप से प्रत्यगात्मा को देखा" ऐसा कठोपनिषत् में भी कहा है "आत्मज्ञान से अमरत्व प्राप्त होता ही है" यह हेतु सूचक वचन है क्योंकि इसके विपरीत ज्ञान से मृत्यु की प्राप्ति होती है। बुद्धि आदि विषयों में आत्म दृष्टि होने से ही मरना पड़ता है। अतः आत्मज्ञान अमरत्व का हेतु है। इसीलिये **"अमृतत्वं हि विन्दते"** यह हेतु वचन युक्ति-युक्त ही है।

शंका :— क्या आत्मज्ञान से अमरत्व उत्पन्न किया जाता है?

समाधान :— नहीं।

शंका :— तो फिर कैसे?

समाधान :— अमरत्व तो अपनी नित्य आत्म स्वभाव से ही प्राप्त करता है, किसी के आलम्बन

---

१. मतमित्यन्तेन विवक्षितमर्थमाह—तदेव सम्यग्ज्ञानमित्यादिना। २. प्रत्यगात्मविज्ञानमिति—प्रत्यगात्मत्वेन ब्रह्मणो विज्ञानमित्यर्थः। ३. विषयविज्ञानमिति—विषयत्वेन ब्रह्मणो विज्ञानमित्यर्थः। ४. नित्यात्मस्वभावेनेति—स्वात्मस्वरूपत्वेनैवावस्थितममृतत्वं विदन्ते स्वात्मरूपतया स्वाभाविकमेवामृतत्वं विद्यया विन्दते न तयोत्पाद्यमित्यर्थः। ५. अव्यभिचरितस्वरूपेणेत्येतदेव स्फुटयति—बिम्बेति। ६. एकेन रूपेण—सर्वशरीरेष्वेकत्वेनेत्यर्थः। ७. आद्यखण्डयोर्विवक्षितं रूपमाह—अद्वयेति। ८. अन्त्यखण्डयोर्विविक्षितं तदाह—सर्वज्ञत्वादीति। ९. शास्त्रं च स्वर्गादिवत्तटस्थे नापरोक्षं ज्ञानं प्रसूत इत्याशयेनाह—तटस्थस्येति। शास्त्रात्तटस्थत्वेन आत्मभिन्नत्वेन गृह्यमाणस्यापरोक्षत्वं न संभवतीत्यर्थः। १०. विशेषणमिति—प्रत्यक्त्वोक्तिरिति यावत्। ११. प्रत्यक्तयेति—प्रत्यक्तयैव ब्रह्मणो ज्ञानमपरोक्ष तदेव च सम्यगित्यर्थः। १२. इत्यत्रेति—अपरोक्षस्यैव सम्यक्त्व इत्यर्थः।

तत्कर्तारं विजानातीति बोधलक्षणेन विदितं प्रतिबोधविदितमिति व्याख्यायते। यथा यो वृक्षशाखाश्चालयति स वायुरिति तद्वत्। तदा बोधक्रियाशक्तिमानात्मा द्रव्यं न बोधस्वरूप एव। बोधस्तु जायते विनश्यति च। यदा बोधो जायते तदा बोधक्रियया [१]सह विशेषः। यदा बोधो नश्यति तदा नष्टबोधो द्रव्यमात्रं निर्विशेषः। तत्रैवं सति [२]विक्रियात्मकः सावयवोऽनित्योऽशुद्ध इत्यादयो दोषा न परिहर्तुं शक्यन्ते। यदपि काणादानामात्ममनःसंयोगजो बोध आत्मनि समवैति। अत आत्मनि बोद्धृत्वं [३]नतु विक्रियात्मक आत्मा। द्रव्यमात्रस्तु भवति घट इव रागसमवायी। अस्मिन्पक्षेऽप्यचेतनं द्रव्यमात्रं ब्रह्मेति "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्याद्याः श्रुतयो बाधिताः स्युः। आत्मनो निरवयवत्वेन प्रदेशाभावान्नित्यसंयुक्तात्वाच्च मनसः स्मृत्युत्पत्तिनियमानुपपत्ति-

---

चेतने चैतन्यमुत्पद्यत इत्येतन्न केवलं श्रुतिविरुद्धमसंभावितं चेत्याह—आत्मनो निरवयवत्वेनेति। **प्रदेशवता प्रदेशवतो लोके संयोगो दृष्टः। आत्मनो निष्प्रदेशत्वान्मनसा संयोगो न संभवतीत्युक्तं तदयुक्तम्। युगपत्सर्वमूर्तसंयोगित्वं सर्वगतत्वमात्मनस्ततो मनसः संयोगोऽपीति चेत्तत्राऽऽह**—नित्येति। **[४]ग्रहणकालादन्यकाल एव स्मृतीनां क्रमेणैवोत्पत्तिरिति नियमो वैशेषिकस्य [५]नोपपद्यते**

विदितम्" इस वाक्य का अर्थ ऐसा किया जाता है कि आत्मा बोध क्रिया का कर्ता है, इसलिये बोध क्रिया रूप लिंग से उस बोध के कर्ता को जानता है। अत: बोधरूप से विदित होने के कारण वह **'प्रतिबोधविदितम्'** कहा जाता है। उस समय ऐसा अर्थ करने पर बोध क्रियारूप शक्ति से युक्त आत्मा एक द्रव्य सिद्ध होगा, साक्षात् बोध स्वरूप सिद्ध न हो सकेगा क्योंकि बोध उत्पन्न होता है और नष्ट हो जाता है। अत: जब बोध उत्पन्न होता है, तब आत्मा बोध क्रिया से विशिष्ट होता है और जब बोध नष्ट हो जाता है, तब बोध रहित निर्विशेष द्रव्यमात्र रहता है ऐसा मानने पर वह विकारी, सावयव, अनित्य और अशुद्ध है, इत्यादि दोषों का आत्मा में परिहार नहीं किया जा सकता।

और जो वैशेषिकों का मत है कि आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न हुआ बोध आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहता है, इसीलिये आत्मा में बोद्धृत्व है किन्तु आत्मा वास्तव में विकारी नहीं है, वह तो नील-पीतादि वर्णों के समवायी घट की भाँति केवल द्रव्यमात्र है। इस पक्ष में भी अचेतन द्रव्य

---

१. सह विशेष इति—"तेन सहेति तुल्ययोगे" इति समासेऽपि "वोपसर्जनस्ये"ति सादेशस्य वैकल्पिकत्वात्तदकरणं विशेषवानित्यर्थः। क्रिययेति तृतीयार्थोऽभेदस्तदात्मक एव विशेष इति। २. विक्रियात्मक इति—विकारवानिति यावत्। ३. नतु विक्रियात्मक इति—बोधगुणस्योत्पत्तिविनाशवत्त्वेऽपि तदाश्रयद्रव्यभूतस्यात्मनो यथावदवस्थितत्वात्स निर्विकार एवेति भावः। ४. ग्रहणकालादन्येत्यादि—ग्रहणकालोऽनुभवकालः। अनुभूतार्थगोचराः स्मृतीः प्रति तत्तत्संसकारा आत्ममनःसंयोगश्च कारणं तदुभयसत्त्वेऽपि क्रमेणैव स्मृतयो जायन्त इति नियमो निरुपपत्तिक एव। न चोद्बोधकादृष्टादीनां सहकारित्वकल्पनया सूपपाद इति शङ्क्यमश्रौतकल्पनापेक्षया "एतत्सर्वं मन एवे" त्यादि श्रुत्यनुसारिण्या एव कल्पनाया न्याय्यत्वात्। संस्कारसंयोगयोः सत्त्वेन ग्रहणकालेऽपि स्मृत्युत्पत्तिप्रसंगाच्च ग्रहणकालादन्यकाले एव स्मृत्युत्पत्तिरित्यपि नियमो न संभवति ग्रहणसामग्र्याः स्मृतिसामग्रीप्रतिबन्धकत्वादिकल्पना त्वश्रौतत्वाद्गौरवाच्चोपेक्ष्या एवेति भावः। ५. नोपपद्यत इति—आत्ममनःसंयोगस्य विषयेन्द्रियसंनिकर्षस्य च स्मृतिकालेऽपि सत्त्वेन तस्य ग्रहणकालान्यत्वासंभवादिति भावः।

विन्दते। नाऽऽलम्बनपूर्वकम्। विन्दत इत्यात्मविज्ञानापेक्षम्। यदि हि विद्योत्पाद्यममृतत्वं स्यादनित्यं भवेत्कर्मकार्यवत्। अतो न विद्योत्पाद्यम्। यदि चा[१]ऽऽत्मनैवामृतत्वं विन्दते किं पुनर्विद्यया क्रियत इत्युच्यते। अनात्मविज्ञानं निवर्तयन्ती सा तन्निवृत्त्या स्वाभाविकस्यामृतत्वस्य निमित्तमिति [२]कल्प्यते। यत आह वीर्यं विद्यया विन्दते। वीर्यं सामर्थ्यमनात्माध्यारोपमायास्वान्तध्वान्तानभिभाव्यलक्षणं बलं विद्यया विन्दते। तच्च किंविशिष्टम्। अमृतमविनाशि। अविद्याजं हि वीर्यं विनाशि। विद्ययाऽविद्याया

त्मवित्" इत्यादिश्रुतिषु चाऽऽत्मज्ञानममृतत्वनिमित्तं प्रसिद्धमित्यर्थः। नाऽऽलम्बनपूर्वकमिति। किंचिदुपास्यमालम्बनीकृत्य तदुपासनसाध्यतया न विन्दत इत्यर्थः। कथं तर्हि विन्दत इति प्रयोग इत्याकाङ्क्षायामाह—आत्मविज्ञानापेक्षमिति। आत्मविज्ञानेन मर्त्यत्वभ्रमनिवृत्तिमपेक्ष्या[३]मृतत्वमुपचर्यत इत्यर्थः। मुख्यार्थे बाधमाह—यदि हीत्यादिना। अनात्मा विज्ञायते येन तदनात्मविज्ञानमनाद्यनिर्वाच्यमात्माज्ञानमित्यर्थः। पुनरज्ञानान्तरोदयेन बन्धशङ्कायां कथं सकृदज्ञाननिवृत्तिमात्रेणामृतत्वनिनमित्तत्वं ज्ञानस्येत्याशङ्क्याऽऽह—यत आहेति। [४]स्वस्यान्तोऽवच्छेदो भवति येन ध्वान्तेन तत्स्वान्तध्वान्तमनात्माध्यारोपो [५]मनुष्यत्वाद्यभिमानः [६]पारमेश्वरी शक्तिर्माया [७]जीवत्वनिमित्तमज्ञानं स्वान्तध्वान्तम्। [८]एतैः सर्वैरभिभवनीयो न भवत्यात्मा येन विद्याकृतेना[९]तिशयेन तद्वीर्यं विद्वाँल्लभते। पूर्वसिद्धस्याज्ञानादेर्नाशान्मायायाश्च [१०]स्वतो जीवबन्धकत्वाभावादभिनवस्याज्ञानस्योत्पत्तौ [११]कारणा-

---

पूर्वक नहीं। "विन्दते" इससे उसकी प्राप्ति आत्मविज्ञान की अपेक्षा रखने वाली कही गयी है। यदि अमरत्व विद्या से उत्पाद्य हो तो कर्म फल के समान वह अमरत्व भी अनित्य हो जाएगा। अतः मोक्ष विद्या से उत्पाद्य नहीं है। यदि कहो कि जब अमरत्व स्वतः ही प्राप्त हो जाता है फिर भला विद्या से उसमें क्या किया जाता है? इस पर कहते हैं कि वह विद्या आत्मविज्ञान को निवृत्ति करती हुयी उसकी निवृत्ति से स्वाभाविक अमरत्व में निमित्त मात्र बनती है क्योंकि "विद्या से सामर्थ्य प्राप्त होता है" (जिससे कि अज्ञानान्धकार को मिटा सके) ऐसा अग्रिम वाक्य से भी कहा जाएगा। अनात्मा के अध्यारोप, माया और अन्तःकरण के कारण प्राप्त हुये अज्ञान से जिसका पराभव नहीं हो सकता, ऐसा सामर्थ्य विद्या से ही प्राप्त होता है। वह किस विशेषण से विशिष्ट है? वह अमृत अर्थात् अविनाशी

---

१. आत्मनैवामृतत्वमिति—स्वाभाविकमेवामृतत्वमित्यर्थः। २. यतो विद्याऽज्ञानं निवर्तयन्ती पुनरज्ञानान्तरोदयप्रतिद्वन्द्विवीर्यमादधाती श्रुतिराह—अतः सकृदज्ञाननिवर्तनेनैव स्वाभाविकममृतत्वमभिव्यनक्तीति कल्प्यत इत्यर्थः। ३. अमृतत्वमिति—तत्प्राप्तिरुक्ता। ४. स्वस्यान्तोऽवच्छेदो भवति येन ध्वान्तेन तत् स्वान्तध्वान्तमित्ययं पाठो जीवत्वनिमित्तमज्ञानं स्वान्तध्वान्तमित्यस्यानन्तरमपेक्षितो लेखकादिप्रमादादादावागत इति विभाति। ५. मनुष्यत्वाद्यभिमान इति—वक्ष्यमाणजीवत्वनिमित्ताज्ञानकार्यरूप इत्यर्थः। ६. पारमेश्वरी शक्तिरिति—परमेश्वरत्वोपाधिः शुद्धसत्त्वप्रधाना त्रिगुणात्मिका प्रकृतिरित्यर्थः। ७. जीवत्वनिमित्तमज्ञानमिति—जीवत्वोपाधिरविद्या मलिनसत्त्वप्रधानं प्रकृतेरेव रूपान्तरमित्यर्थः। माया चाविद्या च स्वयमेव भवतीति श्रुतेः। ८. एतैः सर्वैरभिभवनीय इति—अभिभवश्चैतत्प्रयुक्तदैन्यानुभव एवेति बोध्यम्। ९. अतिशयेनेति—स चानुपदमेव वक्ष्यमाणावष्टम्भरूपः। १०. स्वत इति—अज्ञानमद्वारीकृत्येत्यर्थः। न हि जीवसृष्टिमन्तरेणेश्वरसृष्टेर्बन्धकत्वमिति भावः। ११. कारणाभावादिति—तस्यानादित्यादिति भावः।

रपरिहार्या स्यात्। संसर्गधर्मित्वं चाऽऽतमनः श्रुतिस्मृतिन्यायविरुद्धं कल्पितं स्यात्। "असङ्गो न हि सज्जते" असक्तं सर्वभृत्" इति श्रुतिस्मृती द्वे। न्यायश्च गुणवद्गुणवता संसृज्यते नातुल्यजातीयम्। अतो निर्गुणं निर्विशेषं सर्वविलक्षणं केनचिदप्यतुल्यजातीयेन संसृज्यत इत्येतन्न्यायविरुद्धं भवेत्। तस्मान्नित्यालुप्तविज्ञानस्वरूपज्योतिरात्मा ब्रह्मेत्ययमर्थः सर्वबोधबोद्धृत्व आत्मनः सिध्यति नान्यथा। तस्मात्प्रतिबोधविदितं मतमिति यथाव्याख्यात एवार्थोऽस्माभिः। यत्पुनः स्वसंवेद्यता प्रतिबोधविदितमित्यस्य वाक्यस्यार्[1]थो वर्ण्यते। तत्र भवति सोपाधिकत्वे [2]आत्मनो बुद्ध्युपाधि-

---

ग्रहणकालेऽपि स्मृत्युत्पत्तिप्रसङ्गाच्च संस्कारवदात्ममनःसंयोगस्याविशेषादित्यर्थः। सर्वगतत्वं च [3]सर्वाव्यवधानमात्रं न तु संयोगित्वं कल्पनीयमित्याह—संसर्गधर्मित्वं चेति। न्यायविरुद्धमित्युक्तं तत्स्फुटयति—न्यायश्चेति। एकदेशिव्याख्यानान्तरमनूद्य दूषयति—यत्पुनरित्यादिना। यद्वेद्यं तद्वेदितुर्वेदनाच्च भिन्नं यथा घटादीति व्याप्तिविरोधात्स्वसंवेद्यत्वं वास्तवं नोपपद्यते ततो [4]बुद्ध्यादावात्मभावमारोप्याऽऽत्मना तस्य वेद्यत्वं वाच्यमिति निरुपाधिकस्वरूपस्थितिर्न स्यादित्याह—तत्र भवति

मात्र ही ब्रह्म सिद्ध होगा। ऐसी स्थिति में "ब्रह्म विज्ञान एवं आनन्द स्वरूप है" "प्रज्ञान ब्रह्म है" इत्यादि श्रुतियाँ बाधित हो जायेंगी। निरवयव होने के कारण आत्मा में कोई देश विशेष नहीं है साथ ही आत्मा के साथ मन का संयोग नित्य है। अत: आत्मा में स्मृति की उत्पत्ति नियम की अयुक्तता का परिहार कर नहीं सकते। साथ ही श्रुति, स्मृति और युक्ति से विरुद्ध आत्मा में संसर्ग-धर्मित्व की कल्पना भी होने लगेगी। "आत्मा का किसी से संग नहीं होता", "आसक्ति रहित सबका पालन करने वाला है", ऐसी श्रुति और स्मृति प्रसिद्ध हैं। युक्ति से भी यही सिद्ध होता है कि सगुण वस्तु ही गुणवान् के साथ संसर्ग कर सकती है, भिन्न जाति वाली वस्तुओं का संयोग नहीं हो सकता। अत: निर्गुण, निर्विशेष और सबसे विलक्षण आत्मा का किसी भी विजातीय पदार्थ के साथ संयोग होता है, ऐसा मानना न्याय विरुद्ध है। इसलिये नित्य अलुप्त ज्ञान स्वरूप प्रकाशमय आत्मा ब्रह्म स्वरूप है। यह अर्थ तभी सिद्ध होता है जब सभी बोधों का बोद्धा अर्थात् प्रकाशक आत्मा को माना जाय अन्य प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता। इसीलिये **"प्रतिबोधविदितम्"** इस वाक्य का जैसा अर्थ हमने किया है, वह ठीक है।

इसके अतिरिक्त **"प्रतिबोधविदितम्"** इस वाक्य का जो स्वसंवेद्यता अर्थ किया जाता है। वहाँ पर आत्मा को सोपाधिक मानकर एवं उसमें बुद्धि आदि उपाधि के स्वरूप से भेद की कल्पना कर

---

१. अर्थ इति—स हि आत्मनैवात्मानं पश्यति स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं पश्यति स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम इत्यादि श्रुतिस्मृत्यनुकूलो भवतीति वर्णयितुरभिप्रायः। २. तस्मिन्पक्षे सोपाधिकत्वमेवात्मनो भवतीत्युक्तमुपपादयन्नाह—आत्मनो बुद्धीत्यादि। ३. सर्वाव्यवधानमात्रमिति—अधिष्ठानतया सर्वतादात्म्यमित्यर्थः। ४. बुद्ध्यादाविति—साभासा बुद्धिस्तदधिष्ठानचैतन्यं चेति समूहे आत्मत्वमध्यस्य तत्रोपहितेनाधिष्ठानभूतेनात्मनोपाधिभागस्य प्रकाशनादात्मनः स्वसंवेद्यत्वं वाच्यमेवं स्वसंवेद्यत्वमात्मनोऽभ्युपगच्छतां सोपाधिकस्वरूपमेवात्मनः सिध्यति न निरुपाधिकं तत्र स्वसंवेद्यत्यासंभवादिति भावः।

बाध्यत्वात्। न तु विद्याया बाधकोऽस्तीति विद्याजममृतं वीर्यम्। अतो विद्याऽमृतत्वे निमित्तमात्रं भवति। "[1]नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इति चाऽऽथर्वणे। [2]लोकेऽपि विद्याजमेव बलमभिभवति न शरीरादिसामर्थ्यं यथा हस्त्यादेः। अथवा प्रतिबोधविदितं मतमिति सकृदेवाशेषविपरीतनिरस्तसंस्कारेण [3]स्वप्नप्रतिबोधवद्यद्विदितं तदेव मतं ज्ञातं भवतीति। अथवा [4]गुरूपदेशः प्रतिबोधस्तेन वा विदितं मतमि[5]त्युभयत्र

भावात्। [6]प्रवृत्तफलकर्माक्षिप्तस्य चाज्ञानलेशस्य द्वैतावभासस्य च विद्वदनभिभावकत्वाद्[7]दुर्बलत्वान्निश्चीयते सम्यग्ज्ञानस्यामृतत्वहेतुत्वमित्यर्थः। ननु विद्याजं चेत्कथमविनाशि कृतकस्य विनाशित्वनियमादित्याशङ्क्याऽऽह—न तु विद्याया इति। यावद्देहपातं जायमानो द्वैतावभासो विद्यया बाध्यत एव न मामभिभवितुं शक्नोतीत्य[8]वष्टम्भो वीर्यं तस्याविनाशोऽमृतत्वं तत्कारणविद्याया अबाध्यत्वाभिप्रायेणोच्यते न स्वरूपनाशाभावाभिप्रायेणेत्यर्थः। प्रतिबोधपदस्य यौगिकमर्थं व्याख्याय रूढ्यभिप्रायेण व्याचष्टे—अथवेति। अशेषतया [9]विपरीतो निरस्तः संस्कारो येन बोधेन स प्रतिबोधो युगपत्[10]कृत्स्नाविद्यातत्कार्यनिवर्तकः सद्योमुक्तिहेतुरित्यर्थः। प्रतिबोधशब्दस्त्रेधा व्याख्यातस्तत्राऽऽद्यं व्याख्यानं

है। अविद्या जनित बल विनाशी होता है क्योंकि विद्या से अविद्या का बाध हो जाता है किन्तु विद्या का बाधक दूसरा कोई नहीं। अतः विद्या जनित सामर्थ्य अविनाशी है। इसीलिये विद्या अमृतत्व की प्राप्ति में केवल निमित्त मात्र होती है। आथर्वण श्रुति में भी कहा है "यह आत्मा बलहीन पुरुष से प्राप्त होने योग्य नहीं है" लोक में भी विद्या से जनित बल ही दूसरों का पराभव करता है। शरीर आदि का बल नहीं। जैसे हाथी, घोड़ा आदि के (शारीरिक बल मनुष्य के विद्या जनित बल को दबा नहीं सकता)।

अथवा "प्रतिबोधविदितं मतम्" इस वाक्य का ऐसा अर्थ समझना चाहिये कि स्वप्न से जागे हुये की भाँति जिसके सम्पूर्ण विपरीत संस्कारों का निरास हो जाता है, उसी से जो जाना जाता है और वही ज्ञात होता है।

अथवा गुरु का उपदेश ही प्रतिबोध है, उससे विदित तत्त्व ही ज्ञात है। सोकर जगा हुआ

---

१. विद्याभिव्यङ्ग्यामृतत्वे विद्याबलस्य द्वारत्वे श्रुतिमनुकूलयति—नायमात्मेत्यादिम्। २. विद्याबलमेव बलान्तराभिभावकमित्येतल्लोकप्रसिद्धमित्याह—लोकेऽपीति। बलाधिकोऽपि हस्त्यादिरङ्कुशादिविद्यावतो हस्तिपंकादेर्भृशं बिभेत्येवेति सुव्यक्तं लोक इत्यर्थः। ३. स्वप्नप्रतिबोधवद्यद्विदितमिति—यथा स्वप्नसगर्भात्स्वापात्केनचिन्महता शब्देन झटिति प्रबोधितस्य सद्य एव निःशेषस्वाप्नाभावोपलक्षित आत्मैव विदितो भवति तथा तत्त्वमसीति महता शब्देन गुर्वादिप्रतिबोधितस्य द्रागेव कृत्स्नाविद्यातत्कार्याभावोपलक्षितं ब्रह्मानुभूयते येन बोधेन स बोधः प्रतिबोधशब्दार्थस्तेनैव विदितं ब्रह्म मतं भवतीत्यर्थः। ४. गुरूपदेशः प्रतिबोध इति—मुक्तिविलम्ब एवात्र पूर्वस्माद्विशेषः। उपदेशजन्यत्वस्यानुसंधानादिस्वप्रयत्ननिरपेक्षत्वस्य चोभयत्र तुल्यत्वादिति ध्येयम्। ५. रूढिमनुभावयति—उभयत्रेत्यादिना। ६. प्रवृत्तफलेति—प्रारब्धकर्मरक्षितस्येति यावत्। ७. दुर्बलत्वादिति—विद्याऽभिभाव्यत्वेन विद्यापेक्षया दुर्बलत्वादित्यर्थः। ८. अवष्टम्भो—ध्रुवो विस्रम्भः। ९. विपरीत इति—अनात्मगोचर इत्यर्थः। १०. कृत्स्नेति—लेशं न शेषयति।

स्वरूपत्वेन भेदं परिकल्प्याऽऽत्मनाऽऽत्मानं वेत्तीति[१]संव्यवहारः। "[२]आत्मनैवाऽऽत्मानं पश्यति" "स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम" इति। नतु निरुपाधिकस्याऽऽत्मन एकत्वे स्वसंवेद्यता परसंवेद्यता वा संभवति। संवेदनस्वरूपत्वात्संवेदनान्तरापेक्षा च न संभवति यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरापेक्षाया न संभवस्तद्वत्। बौद्धपक्षे स्वसंवेद्यतायां तु क्षणभङ्गुरत्वं निरात्मकत्वं च विज्ञानस्य स्यात्। "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्"। "नित्यं विभुं सर्वगतम्" "स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयः" इत्याद्याः श्रुतयो बाध्येरन्। यत्पुनः प्रतिबोधशब्देन [३]निर्निमित्तो बोधः

सोपाधिकत्व इति। **काणादस्य स्वसंवेद्यत्वानङ्गीकारबलात्परवेद्यत्वं प्रसज्जत इत्यपि न वाच्यमित्याह**—संवेदनस्वरूपत्वादिति। **बौद्धेन स्वसंवेद्यं विज्ञानमिष्टं तव किं न स्यादित्यत आह**—बौद्धपक्ष इति। **[४]प्रत्यक्षस्य वर्तमानावभासकत्वात्क्षणान्तरविशिष्टे स्वात्मनि क्षणान्तरविशिष्टं तदेव विज्ञानं प्रत्यक्षं [५]न संभवति। अतः स्वात्मनि स्वयमेव विज्ञानं प्रत्यक्षं चे[६]द्वर्तमानक्षणमात्रं सत्त्वं स्यात्। स्वसंवेद्यत्वेन साक्षिणोऽनङ्गीकारा[७]न्निरात्मत्वं च स्यादेव तच्छ्रुतिविरुद्धमित्यर्थः। प्रतिबोधवाक्यस्यार्थान्तरं शङ्कते**—यत्पुनरिति। **ब्रह्माहमस्मीति चिन्तयतो यावच्चेतोव्यापृतिस्तावत्संप्रज्ञातसमा-**

आत्मा से आत्मा को जानता है, ऐसा सम व्यवहार सम्भव है। जैसा कि "आत्मा में ही आत्मा को देखता है", "हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपने से अपने को जानते हो" इत्यादि वाक्यों द्वारा कहा गया है किन्तु निरुपाधिक आत्मा में एकत्व होने के कारण स्वसंवेद्यता या परसंवेद्यता सम्भव नहीं है। जैसे प्रकाश को किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती, ठीक वैसे ही संवेदनस्वरूप होने के कारण आत्मा को किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा सम्भव नहीं है।

और बौद्धमत में विज्ञान की वह स्वसंवेद्यता मानने पर ही उसकी क्षणभंगुरता और निरात्मकता (शून्यवाद) सिद्ध होगी ही। ऐसी स्थिति में "अविनाशी होने से विज्ञाता की विज्ञाति का लोप नहीं होता है।" "ब्रह्म नित्य, विभु और सर्वगत है", "वह यह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमर, अमृत और अभयरूप है" इत्यादि श्रुतियाँ बौद्धपक्ष में बाधित होने लग जायेंगी। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार सुषुप्त पुरुष को विना निमित्त के ही हुए बोध को प्रतिबोध कहा गया है। ऐसे अर्थ की कल्पना

---

१. इति संव्यवहारः—इत्यर्थको व्यवहार इत्यर्थः। २. तमेव दर्शयति—आत्मनैवेत्यादिना। ३. निर्निमित्त इति—प्रमाणवृत्तिनिरपेक्ष इति यावत्। ४. प्रत्यक्षस्य वर्तमानावभासकत्वादिति—भूतभाविनोरनुमानैकगम्यत्वादिति भावः। प्रत्यक्षं प्रति विषयस्य कारणत्वेन सम्प्रत्यसतोर्भूतभाविनोः प्रत्यक्षासंभवादिति। ५. न संभवतीति—उत्तरक्षणविशिष्टविज्ञानं प्रति पूर्वक्षणविशिष्टस्य भूतत्वात् पूर्वं प्रति चोत्तरस्य भावित्वादिति भावः। ६. वर्तमानक्षणमात्रं सत्त्वं स्यादिति—सत्त्वस्य प्रमाणाधीनत्वात् प्रत्यक्षप्रमाणेन च वर्तमानक्षणमात्रविषयीकरणादिति भावः। ७. निरात्मत्वं च स्यादिति—यथा देहस्य साक्षिणैव सात्मत्वं तथा विज्ञानस्य साक्षिणैव सात्मत्वं संभवति, असाक्षिकत्वे तु निरात्मत्वमेव स्यादिति भावः। न च विज्ञानमेवाऽऽत्माऽऽत्मनश्च न साक्ष्यन्तरापेक्षया सात्मत्वमात्मत्वादेवान्यथा तवापि तुल्यं दूषणमिति शक्यं वक्तुं विज्ञानस्य क्षणभङ्गुरत्वेन देहादिवदात्मत्वायोगान्मम त्वात्मनो नित्यत्वान्नावद्यलेशोऽपीति ध्येयम्।

प्रतिबोधनशब्दप्रयोगोऽस्ति। सुप्तप्रतिबुद्धो गुरुणा प्रतिबोधित इति। पूर्वं तु यथार्थम् ।।१२।।४।।

इह चेदवेदीदित्यवश्यकर्तव्यतोक्तिर्विपर्यये विनाशश्रुतेः। इह मनुष्यजन्मनि सत्यवश्यमात्मा वेदितव्य इत्येतद्विधीयते। कथमि[१]ह चेदिवेदीद्विदितवान्। अथ सत्यं परमार्थतत्त्वमस्त्यवाप्तं तस्य जन्म सफलमित्यभिप्रायः। न चेदिहावेदीन्न विदितवान्वृथैव जन्म। अपि च महती विनष्टिर्महान्विनाशो जन्ममरणप्रबन्धाविच्छेदप्राप्तिलक्षणः स्याद्यतस्तस्मादवश्यं तद्विच्छेदाय ज्ञेय आत्मा। [२]ज्ञानेन तु [३]किं स्यादित्युच्यते— भूतेषु भूतेषु चराचरेषु सर्वेष्वित्यर्थः। विचित्य पृथङ्निष्कृष्यैकमात्मतत्त्वं संसार-धर्मैरस्पृष्टमात्मभावेनोपलभ्येत्यर्थः। अनेकार्थत्वाद्धातूनाम्। न पुनश्चित्वेति संभवति

युक्तमित्याह—पूर्वं त्विति। **गुरुपदेशे सत्यपि [४]प्रतिबोधं व्यापकात्मानुसंधानं विना परोक्षवगमा-[५]संभवात्सद्योमुक्तेश्चा[६]शास्त्रीयत्वादित्यर्थः ।।१२।।४।।**

इह चेदवेदीदित्यादिवाक्यार्थं संगृहीतं विवृणोति—इह मनुष्यजन्मनीत्यादिना। विरोधादिति।

अथवा गुरु द्वारा जगाया हुआ दोनों ही जगह में प्रतिबोध शब्द का प्रयोग होता है किन्तु इन तीनों में सबसे पूर्व किया गया व्याख्यान ही यथार्थ है।।४।।

"**इह चेदवेदीदथसत्यमस्ति**" यह आत्मसाक्षात्कार की अवश्य कर्तव्यता पर बल देती है क्योंकि इससे विपरीत अवस्था में श्रुति ने विनाश बतलाया है। इस मनुष्य जन्म के रहते हुए आत्मा को अवश्य जान लेना चाहिये। ऐसा विधान किया जाता है। कैसे? यदि इस जन्म में आत्मा को जान लिया तो उसे परमार्थ तत्त्व प्राप्त हो जाने के कारण सब ठीक है अर्थात् उसका जन्म सफल हो गया और यदि उसे इस जन्म में नहीं जाना तो उसका जन्म व्यर्थ ही गया। इतना ही नहीं प्रत्युत जन्म-मरण परम्परा की अवच्छिन्नतारूप बड़ी भारी क्षति होगी। अतः उस अनर्थ परम्परा के विच्छेद हेतु आत्मा को अवश्य जानना ही चाहिये।

आत्मज्ञान से क्या होगा? इसे बतलाते हैं। सम्पूर्ण चराचर प्राणियों में आत्मा का शोधन कर अर्थात् संसार धर्मों से असंस्पृष्ट एकमात्र आत्मतत्त्व को आत्मरूप से उपलब्ध कर विवेकी पुरुष (अमर

---

१. इह चेदित्यादि—यदि सत्यमवेदीदथ तदाऽस्तीत्यन्वयः। २. न चेदिहावेदीदित्यज्ञानेन महान् विनाशः स्यादित्युक्तं तर्हि ज्ञानफलमपि वक्तव्यमित्याशयवान् पृच्छति—ज्ञानेन त्विति। ३. किं स्यादिति—येन जन्मसाफल्यमुच्यत इति भावः। ४. प्रतिबोधं व्यापकेति—प्रतिबोधं व्यापको य आत्मा यद्व्याप्ताः सर्वे बौद्धप्रत्ययास्तदनुसंधानं साक्षित्वेन तद्विनेत्यर्थः। ५. असंभवादिति—अन्यथा विरोचनस्यापि सोऽभविष्यदिन्द्रवदिति भावः। ६. अशास्त्रीयत्वादिति—तस्य तावदेव चिरमित्यादिशास्त्रविरुद्धत्वावित्यर्थः। ज्ञानसंप्रदायानुपपत्त्या चोपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन इत्यादिशास्त्रबाधप्रसङ्गात्।

प्रतिबोधो यथा सुप्तस्येत्यर्थं परिकल्पयन्ति। सकृद्विज्ञानं प्रतिबोध इत्यपरे। निर्निमित्तः

धिर्निवृत्ते[१] चेतोव्यापारे यः परमानन्दसाक्षात्कारः सौषुप्तानन्दसाक्षात्कारवत्सोऽसंप्रज्ञातसमाधिः प्रतिबोध उच्यते। तदुक्तं वार्तिककृता— "[२]अपरायत्तबोधे हि निदिध्यासनमुच्यते" इति। अथवाऽक्रिय-ब्रह्मात्मत्वानुभवे सति प्रमातृत्वानुपपत्तौ पुनर्ज्ञानासंभवात्[३]सद्योमुक्तिकारणं सकृद्विज्ञानं प्रतिबोध उच्यते।

"[४]सकृत्प्रवृत्त्या, मृद्नाति क्रियाकारकरूपभृत्।
अज्ञानमागमज्ञानं [५]सांगत्यं नास्त्यतोऽनयोः"

इति। पक्षद्वयेऽप्यरुचिमाह—निर्निमित्त इति। अयमाशयः—नतावद[६]विद्यानिवर्तकस्याऽऽगन्तुकस्य बोधस्य निर्निमित्तत्वं संभवति। कार्यस्य सनिमित्तत्वव्याप्तेः। सौषुप्तस्यापि न निर्निमित्तत्वम[७]विद्यायाः पूर्वपूर्वनिरोधावस्थासंस्कारोद्भूततादृशवृत्त्यभिव्यक्तचैतन्यस्य तत्र सुखसाक्षात्कारत्वोपगमात्। [८]अत एव वृत्तिविशिष्टस्य [९]विनाशे स्मरणमु[१०]पपद्यते। [११]अत्रापि तर्ह्या[१२]वृत्तिसंस्कारप्रचयान्निवृत्तेऽपि चित्ते ब्रह्माभिव्यक्तं स्यादिति चेन्न। [१३]तथा सत्य[१४]प्रमात्वेन विनष्टपुत्रा[१५]परोक्षादिवाविद्यानिवृत्तिर्न स्यात्। शाब्दज्ञानसंवादात्प्रमात्वे [१६]परतन्त्रत्वप्रसङ्गः, [१७]शब्दमूलत्वात्प्रमात्वे न निर्निमित्ततेति। [१८]प्रवृत्तफल-कर्मप्रतिबन्धाद्वर्तमानप्रमातृन्वाभासनिवृत्तेरसकृद्बोधोऽपि संभवतीति पक्षद्वयेऽपि नाऽऽदरः। सर्वथाऽपि

प्रतिबोध शब्द से करते हैं। दूसरे लोग (मोक्ष के कारण स्वरूप उत्पन्न हुए) सम्यक् विज्ञान को प्रतिबोध कहते हैं। ऐसे लोग कुछ भी मानें, विना निमित्त के अथवा निमित्त से, एक बार अथवा अनेक

---

१. निवृत्ते चेतोव्यापारे इति–व्यापारो वृत्तिस्तथा च निर्वृत्तिकस्य चेतसः संस्कारमात्रात्मनाऽवस्थितावित्यर्थः। २. उक्तबोधस्य निर्निमित्तत्वे प्रमाणमाह—अपरायत्तेति। वृत्त्यावरणभङ्गे निरावरणस्वरूपप्रकाशस्य प्रकाशान्तरनिरपेक्षत्वादपरायत्तत्व-मिति सिद्धान्तगतिः। वार्तिकेऽपि वा पूर्वपक्षतयैकदेशिमतोद्भावनमेवैतदिति मन्तव्यम्। एवमग्रेऽपि। ३. सद्योमुक्तीति—मुक्तिरत्र विदेहकैवल्यम्। ४. यथोक्तप्रतिबोधेऽपि वार्तिकमानयति—सकृदित्यादि। अत्र मृद्नातीत्यस्य मिथ्यापयतीति सिद्धान्तानुसार्यर्थः। मिथ्यापयति-मिथ्याकरोति। ५. सांगत्यं—सामानाधिकरण्यमित्यर्थः। ६. बोधस्यागन्तुकत्वे हेतुगर्भं विशेषणमविद्यानिवर्तकस्येति। अनागन्तुकत्वेऽनादित्वेनाविद्यावस्थित्यसंभवादिति भावः। ७. अविद्याया इति—अस्य वृत्तावन्वयस्तथाहि मनः प्रभृतीनां यः पूर्वः पूर्वो निरोधः सुषुप्तिकालीनोऽविद्यायां लयस्तादृशनिरोधावस्थाया यो विद्यायां संस्कारस्तस्मान्निमित्तादविद्याया या निद्राख्या निरोधवृत्तिस्तदभिव्यक्तेत्यर्थः। निद्राया वृत्तित्वं तूक्तं योगसूत्रे—अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रेति। अभावो जाग्रत्स्वप्नवृत्तीनां तद्धेतुस्तमस्तदालम्बनेत्यर्थः। ८. अत एवेति—यथोक्तवृत्तिनिमित्तकत्वादिति यावत्। ९. विनाश इत्यादि—स्मृतिहेतुसंस्कारस्यानुभवनाशाधीनत्वादिति भावः। १०. उपपद्यत इति—न चैतत्सौषुप्तबोधस्य निर्निमित्तचिन्मात्रत्वोपगमे घटत इति भावः। ११. अत्रापि— असंप्रज्ञातसमाधावपीत्यर्थः। १२. आवृत्तिसंस्कारप्रचयादिति—संप्रज्ञातसमाधिसंस्कारातिशयादिति यावत्। १३. तथा सतीति— प्रमाणोत्थवृत्ति विनैव ब्रह्मत्ताभिव्यक्त्यभ्युपगमे सतीत्यर्थः। १४. अप्रमात्वेनेति—संस्कारप्रचयजन्याया ब्रह्माभिव्यक्तेरिति शेषः। १५. अपरोक्षादिव तस्या इति शेषः। १६. परतन्त्रत्वप्रसङ्ग इति—प्रमात्वस्य परतस्त्वप्रसङ्गः स च मीमांसकसमयविरुद्ध इत्यर्थः। १७. तस्मात्समाधावपि साक्षात्कारस्य प्रमात्वाय शब्दमूलावृत्तिरेव संस्कारमात्रावशेषा ब्रह्माकाराऽभ्युपेया न सा निर्निमित्ता शब्दजत्वादित्याशयेनाह—शब्दमूलत्वात्प्रमात्व इति। १८. सकृद्बोधपक्षं प्रतिक्षिपन्नाह—प्रवृत्तफलकर्मेति। प्रारब्धकर्मेत्यर्थः।

विरोधात्। धीराः धीमन्तो विवेकिनो विनिवृत्तबाह्यविषयाभिलाषाः। प्रेत्य मृत्वाऽस्माल-लोकाच्छरीराद्यनात्मलक्षणाद्व्यावृतममत्वाहंकाराः सन्त इत्यर्थः। अमृता अमरणधर्माणो नित्यविज्ञानामृतत्वस्वभावा एव भवन्ति ।।१३।।५।।

इति द्वितीयः खण्डः ।।२।।

ब्रह्म ह देवेभ्य इति ब्रह्मणो दुर्विज्ञेयतोक्तिर्यत्नाधिक्यार्थां। समाप्ता ब्रह्मविद्या यदधीनः पुरुषार्थः। अतः ऊर्ध्वमर्थवादेन ब्रह्मणो दुर्विज्ञेयतोच्यते। तद्विज्ञाने कथं नु नाम यत्नमधिकं कुर्यादिति। शमाद्यर्थो वाऽऽम्नायोऽभिमानशातनात्। शमादि वा ब्रह्मविद्यासाधनं विधित्सितं तदर्थोऽयमर्थवादाम्नायः। न हि शमादिसाधनरहितस्याभिमानरागद्वेषादियुक्तस्य ब्रह्मविज्ञाने सामर्थ्यमस्ति। [1]व्यावृत्तबाह्यमिथ्याप्रत्ययग्रा-

---

एकस्मिन्निरंशे चिन्मात्रे चयनस्योर्ध्वाधोदेशनिवेशनस्येष्टकानामिवासंभवादित्यर्थः ।।१३।।५।।

इति द्वितीयः खण्डः ।।२।।

"[2]यः सुराणां जये हेतुरसुराणां पराजये।

सत्त्वप्रधानया शक्त्या [3]संपन्नः सोऽहमीश्वरः" इति

ब्रह्म हेत्याद्याख्यायिकायास्तात्पर्यं संगृहीतं विवृणोति—समाप्तेत्यादिना। **तात्पर्यान्तरमाह**—शमाद्यर्थो वेति। **संग्रहवाक्यं विवृणोति**—शमादि वेति। **अभिप्रायान्तरमाख्यायिकायाः संगृह्णाति**—सगुणेति। **संगृहीतं**

हो जाता है) जिसकी बाह्य विषयों से अभिलाषा छूट गयी है, उसे धीर पुरुष कहते हैं, वह इस शरीरादि अनात्म लोक से अहंता-ममता को त्याग कर अमरणधर्मा अर्थात् नित्य विज्ञान अमृत स्वभाव वाले ही हो जाते हैं। धातुओं के अनेक अर्थ हैं। इसीलिये यहाँ पर विचित्य क्रिया का चयन करके ऐसा अर्थ नहीं किया गया, क्योंकि आत्मा के सम्बन्ध में ऐसा अर्थ करने से विरोध आता है।

।। इति द्वितीय खण्डः ।।

।। अथ तृतीय खण्डः ।।

"ब्रह्म ह देवेभ्यः" इत्यादि आख्यायिकापरक वाक्य से ब्रह्म की दुर्विज्ञेयता इसलिये बतलायी गयी है कि ब्रह्म जिज्ञासु उसकी प्राप्ति के लिये अधिक प्रयत्न करे जिसके अधीन परम पुरुषार्थ है। वह विद्या समाप्त कर दी गयी। अब इसके आगे अर्थवाद द्वारा ब्रह्म की दुर्विज्ञेयता कही जाती है। ऐसी स्थिति में उसके विज्ञान के लिये मनुष्य अधिक प्रयत्न किसी भी प्रकार से करे।

अथवा यह आख्यायिका रूप आगम अभिमाननाशक होने के कारण शम आदि की प्राप्ति के लिये हो सकता है या इससे ब्रह्मविद्या के साधन शमादि को बतलाना अभीष्ट है। इसीलिये यह अर्थवाद आगम है। क्योंकि जो साधक शमादि साधनों से शून्य तथा अभिमान रागादि से युक्त है, उसका

---

१. व्यावृत्तेत्यादि—व्यवृत्ता निवृत्ता बाह्यगोचरा मिथ्याप्रत्यया देहादिगोचराभिमानादिरूपा यस्य तेनैवाधिकारिणा साक्षात्कर्तुं शक्यत्वाद्-ब्रह्मण इत्यर्थः। २. भाष्यसंगृहीतमाख्यायिकातात्पर्यं स्वयं ग्रथ्नन्नाह—य इत्यादिना। ३. संपन्नो विशिष्टः।

सनिमित्तः सकृद्वाऽसकृद्वा प्रतिबोध एव हि सः। अमृतत्वममरणभावं स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षं हि यस्माद्विन्दते लभते यथोक्तात्प्रतिबोधात्प्रतिबोधविदितात्मकात्तस्मात्प्रतिबोधविदितमेव मतमित्यभिप्रायः। बोधस्य हि प्रत्यगात्माऽऽत्मविषयं च मतममृतत्वे हेतुः। न ह्यात्मनो [१]ऽनात्मत्वममृतत्वं भवत्यात्मत्वादात्मनोऽमृतत्वं निर्निमित्तमेव। एवं मर्त्यत्वमात्मनो यदविद्ययाऽनात्मत्वप्रतिपत्तिः। [२]कथं पुन[३]र्यथोक्तयाऽऽत्मविद्ययाऽमृतत्वं विन्दत आह-आत्मना स्वेन स्वरूपेण विन्दते लभते वीर्यं बलं सामर्थ्यं [४]धनसहायमन्त्रौषधितपोयोगकृतं वीर्यं मृत्यु न शक्नोत्यभिभवितुमनित्यवस्तुकृतत्वात्। [५]आत्मविद्याकृतं तु

परमात्मा प्रतिबोध एव बोधं प्रति बोधं प्रति साक्षितया भातीति। लक्ष्यपदार्थविवेचनपूर्वकं महावाक्योत्थं परमात्माऽस्मीति ज्ञानमेव सम्यग्ज्ञानं यस्मात्तत एवामृतत्वं लभत इत्याह—अमृतत्वमिति। **उक्तमर्थं संक्षिप्याऽऽह**—बोधस्य हीति। **बुद्धिपरिणामस्य सर्वस्य भासकं प्रत्यक्चैतन्यं परमात्मा न भवति किंतु ब्रह्माण्डाद्बहिः स्थितस्तत्प्राप्तिश्च मोक्ष• इत्याशङ्क्याऽऽह**—न हीति। **अनात्मप्राप्तेः कर्मफलवदनित्यत्वेनामृतत्वप्रसिद्धिर्न स्यादित्यर्थः। यद्युक्तदोषपरिहारायौपाधिकभेदेन भिन्नत्वं ब्रह्मणः स्वतस्त्वात्मत्वमेवेति मन्यसे तत्राऽऽह**—आत्मत्वादिति। **ब्रह्मण आत्मत्वादेवाऽऽत्मनोऽमृतत्वं [६]स्वभावत एव सिद्धम्। तर्हि विद्याया आनर्थक्यं प्राप्तमित्याशङ्क्याऽऽह**—एवं मर्त्यत्वमिति। **अविद्यया देहाद्यात्मत्वप्रतिपत्तिरिति यत्तदात्मनो मर्त्यत्वं तन्निवृत्तिर्विद्याफलमित्यर्थः। [७]वीर्यं विद्याकृतमुक्तं मुक्तत्वे**

बार वह सभी प्रतिबोध ही तो है। (हमें इस विवेचन से कोई मतलब नहीं) क्योंकि पूर्वोक्त प्रतिबोध से मुमुक्षु आत्मा में अवस्थिति रूप अमरत्व को प्राप्त करता है। इसलिये वह ब्रह्म प्रत्येक बोध में अनुभव होने वाला ही माना गया है। यही इसका अभिप्राय है। अमरत्व की प्राप्ति में प्रत्यगात्मविषयक बोध को ही कारण माना गया है। आत्मा की अनात्मरूपता उसके मोक्ष का कारण हो नहीं सकती किन्तु आत्मा का अमरत्व उसका स्वरूप होने के कारण निर्निमित्त सदा सिद्ध ही है। ऐसे ही आत्मा में मरणधर्मत्व अविद्या के कारण अनात्म धर्म की कल्पना ही है।

तो भला पूर्वोक्त आत्मज्ञान से कैसे अमरत्व प्राप्त करता है? इस पर कहते हैं, अपने स्वरूप के ज्ञान से अमरत्व प्राप्ति का सामर्थ्य मुमुक्षु पुरुष प्राप्त कर लेता है क्योंकि धन, सहाय, मन्त्र, औषधि, तप और योग से प्राप्त होने वाला सामर्थ्य अनित्य वस्तु जन्य होने के कारण मृत्यु का पराभव नहीं कर सकता है। इसके विपरीत आत्मविद्या से प्राप्त सामर्थ्य आत्मा से ही प्राप्त होता है, अन्य

---

१. अनात्मत्वं अनात्मप्राप्तिः। २. कथं पुनरित्यादि—न हि मृत्युममारयित्वाऽमृतत्वं नाम सुलभं न चान्तरेण तादृशं बलं मारणं मृत्योरित्याशयः। ३. यथोक्तयाऽऽत्मविद्ययेति—मृत्स्वतिक्रमणमन्तरेणामृतत्वलाभायोगादविद्यया मृत्युं तीर्त्वेति श्रुतेर्मृत्युतरणौपयिकबलमविद्यया संपाद्यैव विद्ययाऽमृतत्वं विन्देतेति भवितव्यं समुच्चयेनेति गूढाभिसन्धिः ४. मुख्यामृतत्वलाभानुकूलमृत्व्वभिभवौपयिकबलाय नाविद्याऽनुसर्तव्या तस्यास्तत्राऽसामर्थ्यादित्याशयेनाह—धनसहायमन्त्रेति ५. आत्मविद्याकृतं तु वीर्यमात्मनैव विन्दत इति—यथा ब्राह्मणत्वादिविज्ञानकृते साधनानुष्ठानादिसामर्थ्ये विज्ञातं ब्राह्मणत्वाद्येव हेतुर्भवति विज्ञानं तत्र द्वारमात्रं यथा वौषधसेवनकृते सामर्थ्ये सेवाद्वारौषधमेव हेतुस्तद्वदिति भावः। ६. स्वभावत एव सिद्धमिति—तथा च कृतकत्वाभावेन नित्यवान्मुखत्वमेवामृतत्वस्येति भावः। ७. वीर्यं विद्याकृतमुक्तं मुक्तत्वे दार्ढ्यमिति-मुक्तीभवने दृढीभाव एवं विद्याकृतं वीर्यमुक्तमित्यन्वयः।

ह्यत्वाद्ब्रह्मणः। यस्माच्चाग्न्यादीनां जयाभिमानं शातयति। ततश्च ब्रह्मविज्ञानं दर्शयत्यभिमानोपशमे। तस्माच्छमादिसाधनविधानार्थोऽयमर्थवाद इत्यवसीयते। सगुणोपासनार्थो वाऽपोदितत्वात्। नेदं यदिदमुपासत इत्युपास्यत्वं ब्रह्मणो-ऽपोदितमपोदितत्वादनुपास्यत्वे प्राप्ते तस्यैव ब्रह्मणः सगुणत्वेनाधिदैवमध्यात्मं चोपासनं विधातव्यमित्येवमर्थो वेत्यधिदैवतं तद्वनमित्युपासितव्यमिति हि वक्ष्यति। ब्रह्मेति परो लिङ्गात्। नह्यन्यत्र परादीश्वरान्नित्यसर्वज्ञात्परिभूयाग्न्यादींस्तृणं वज्रीकर्तुं सामर्थ्यमस्ति तन्न शशाक दग्धुमित्यादिलिङ्गाद्ब्रह्मशब्दवाच्य ईश्वर इत्यवसीयते। नह्यन्यथा-ऽग्निस्तृणं दग्धुं नोत्सहते वायुर्वाऽऽदातुम्। ईश्वरेच्छया तृणमपि वज्रो भवतीत्युपपद्यते। तत्सिद्धिर्जगतो नियतप्रवृत्तेः। श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिभिर्नित्यसर्वविज्ञान ईश्वरे सर्वात्मनि

विवृणोति— नेदमित्यादिना। **कृत्स्नाख्यायिकायास्तात्पर्यमुक्त्वा ब्रह्मशब्दार्थमाह**—ब्रह्मेति परो लिङ्गा-दिति। **एतद्व्याख्याति—नह्यन्यत्रेत्यादिना। कथं तर्हीश्वरसिद्धिरित्याकाङ्क्षायामाह**— तत्सिद्धिरिति। **ननु श्रुत्यादिभिरेवेश्वरे सिद्धे किमिति जगतो नियतप्रवृत्तिलिङ्गका[1]नुमानं सूत्रितं तत्राह**— श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिभिरिति। **यावत्तर्केण संभवो [2]नानुगृह्यते तावच्छास्त्रप्रतिपन्नोऽपीश्वरो न निश्चीयते-**

ब्रह्मविज्ञान में सामर्थ्य नहीं हो सकता। बाह्य मिथ्या प्रतीतियों के ह्रास द्वारा ही ब्रह्म का ग्रहण हो सकता है। इस आख्यान में बतलाया गया है कि देवताओं को विजय सम्बन्धी अभिमान जब नष्ट होता है तत्पश्चात् ही ब्रह्मविज्ञान प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि शमादि साधनों के विधान के लिये ही यह अर्थवादरूप आगम है।

अथवा पहले ब्रह्म में उपास्यत्व का निषेध कर चुके हैं **"नेदं यदिदमुपासते"** इत्यादि श्रुति द्वारा ब्रह्म में उपास्यत्व का निषेध कर चुके हैं। पूर्व से उसका सम्बन्ध है। इस प्रकार ब्रह्म में निषेध हो जाने पर ब्रह्म में अनुपास्यता आ जाती है। अतः सगुण रूप से ब्रह्म की अधिदैव या अध्यात्म उपासना का विधान करने के लिये यह आख्यायिका हो सकती है। ऐसा ही **"तद्वनमित्युपासितव्यम्"** इस मन्त्र द्वारा ब्रह्म के अधिदैवत रूप से उपासना का वर्णन करेंगे।

ब्रह्म शब्द परमात्मा अर्थ समझना चाहिये, क्योंकि इस अर्थ का सूचक चिह्न यहाँ पर विद्यमान् है। नित्य सर्वज्ञ परमेश्वर से भिन्न किसी में भी अग्नि आदि देवताओं का पराभव कर तिनके को वज्र बनाने की शक्ति नहीं हो सकती। अतः "उसे अग्नि नहीं जला सका" इत्यादि लिंग से ब्रह्म शब्द का वाच्य अर्थ ईश्वर है, ऐसा निश्चित होता है। इसके अतिरिक्त किसी भी कारण से अग्नि तृण को जलाने में और वायु उस तिनके को उड़ाने में सामर्थ्यहीन नहीं हो सकते थे। हाँ यह बात अवश्य है कि ईश्वर की इच्छा से तृण भी वज्र हो जाता है। इस प्रकार उस ईश्वर की सिद्धि संसार की नियमित प्रवृत्ति से हो जाती है। यद्यपि श्रुति, स्मृति और प्रसिद्धि से नित्य सर्व विज्ञान स्वरूप

---

१. अनुमानमिति—सूर्यादिजगत् सनियन्तृकं नियतप्रवृत्तिकत्वाद् भृत्यादिवदित्येवं रूपमित्यर्थः। भाष्ये तु सविस्तरं वक्ष्यते। २. नानुगृह्यत इति—नानुभाव्यत इत्यर्थः।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।।१३।।५।।

इति द्वितीयः खण्डः ।।२।।

यदि इस मनुष्य जन्म में ब्रह्म को जान लिया, तब तो ठीक है और यदि उसे इस मनुष्य जन्म रहते-रहते नहीं जाना तो बड़ी भारी क्षति होगी। अतः बुद्धिमान् पुरुष समस्त प्राणियों में उस ब्रह्मतत्त्व को प्रत्यक्ष अनुभव करके इस लोक में जाकर (अद्वैतभाव रूप से) अमर हो जाते हैं (अर्थात् ब्रह्म ही हो जाते है) ।।५।।

।। इति द्वितीयः खण्डः ।।

वीर्यमात्मनैव विन्दते नान्येनेत्यतोऽनन्यसाधनत्वादात्मविद्यावीर्यस्य [1]तदेव वीर्यं मृत्युं शक्नोत्यभिभवितुम्। यत एवमात्मविद्याकृतं वीर्यमात्मनैव विन्दते[2]ऽतो विद्ययाऽऽत्मविषयया विन्दतेऽमृतम्, "[3]नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इत्याथर्वणे। [4]अतः समर्थो हेतुः, अमृतत्वं हि विन्दत इति।।१२।।४।।

कष्टा खलु सुरनरतिर्यक्प्रेतादिषु संसारदुःखबहुलेषु [5]प्राणिनिकायेषु जन्मजरा-

---

दार्ढ्यं [6]तच्च स्वाभाविकमेव मुक्तत्वं वास्तवं सर्वशरीराद्यसंसर्गित्वान्नभोवन्निरवयवत्वादेव। ततश्च नित्यमुक्त एवाहमित्य[7]वष्टम्भो विद्याकृतं बलमित्यर्थः।।१२।।४।।

उत्तरवाक्यस्यापेक्षितमर्थमाह — कष्टा खल्विति। [8]लौकिकमपि [9]सत्यम् चिरं जीवनं

किसी से नहीं। अतः आत्मविद्या जनित सामर्थ्य किसी अन्य साधन से न प्राप्त होने के कारण मृत्यु का पराभव कर सकता है। क्योंकि इस प्रकार आत्मविद्या जनित सामर्थ्य को मुमुक्ष जन आत्मा द्वारा ही पाता है। अतः आत्म विषयक विद्या से ही अमरत्व प्राप्त होता है। ऐसा ही अथर्ववेदीय उपनिषत् में भी कहा है—"यह आत्मा बलहीन पुरुष से प्राप्त होने योग्य नहीं"। अतः मृत्यु के पराभव में आत्मविद्या समर्थ कारण है क्योंकि इससे मोक्ष प्राप्त करता है।।४।।

---

१. तदेव वीर्यमित्यादि—मृत्योराविद्यकत्वात् तदुक्तं मर्त्यत्वमात्मनो यदविद्ययेत्यादि। नित्यमुक्त एवाहमस्मीति दृढावष्टम्भात्मके च वीर्ये सत्यविद्यानवस्थानात्सुकरो वीर्येण यथोक्तेन मृत्योरभिभव इति भावः। २. अत इति—अमृतत्वौपयिकमृत्युतरणानुकूलवीर्योत्पादने विद्यायाः सहकार्यन्तरानपेक्षत्वादिति यावत्। ३. विद्याऽप्यामृतवे मृत्य्वभिभावकवीर्यापेक्षायां श्रुत्यन्तरं संवादयन्नाह—नायमिति। ४. अतः समर्थो हेतुरति— मृत्य्वभिभावकबलस्य विद्ययैव लभ्यत्वात्प्रतिबोधविदितस्य मतत्वसाधको हेतुः सूपपन्न इत्यर्थः। ५. प्राणिनिकायेष्विति—प्राण्यन्तर्गतसुरादिसजातीयानां समूहेष्वित्यर्थः। सधर्मिणां समुदायो निकाय इत्यमरः। ६. तस्य स्वरूपमाह—तच्चेत्यादि। तच्च विद्याकृतं बलं स्वाभाविकमेवेत्याद्याकारोऽवष्टम्भ एवेत्यन्वयः। ७. अवष्टम्भो निगाढप्रत्ययः। नभोवन्निरवयवत्त्वादात्मनः सर्वशरीराद्यसंसर्गित्वं ततोऽसंसर्गित्वादिस्वभावप्रयुक्तत्वात्स्वाभाविकमेवात्मनो मुक्तत्वं वास्तवमिति काल्पनिकबन्धोपपत्तये। अत्र यथोक्तावष्टम्भस्यासंसर्गित्वाद्यात्मस्वभावप्रयुक्तत्वाभिधानादात्मना विन्दत इति सूपपादितं भवतीति ध्येयम्। ८. लौकिकमपि सत्यं तस्य भवतीत्यपिरयमनास्थायाम्। ९. सत्यमिति—स्पृहार्हं फलमुच्यते।

सर्वशक्तौ सिद्धेऽपि शास्त्रार्थनिश्चयार्थमुच्यते। तस्येश्वरस्य सद्भावसिद्धिः कुतो भवतीत्युच्यते। यदिदं जगद्देवगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचादिलक्षणं द्युवियत्पृथिव्यादित्यचन्द्रग्रहनक्षत्र-विचित्रं विविधप्राण्युपभोगयोग्यस्थानसाधनसंबन्धि तदत्यन्तकुशलशिल्पिभिरपि दुर्निर्माणं देशकालनिमित्तानुरूपनियतप्रवृत्तिनिवृत्तिक्रममेतद्भोक्तृकर्मविभागज्ञप्रयत्नपूर्वकं

---

[1]ऽर्थवादत्वशङ्काप्रतिबन्धादतः शास्त्रार्थस्येश्वरस्य निश्चयाय [2]नियमाय [3]सामान्यतो दृष्टमनुमानं [4]शास्त्रानु-ग्राहकरूपं सूत्रेणोच्यते। एतद्व्याख्याति—तस्येश्वरस्येत्यादिना [5]अनादि[6]प्रसिद्धकर्तृव्यतिरिक्तं [7] जगद्ध-र्मीकृत्य यद्यपीश्वरः सिषाधयिषित[8]स्तथापि जगतो बहूनि विशेषणानि संसारिविलक्षणकर्तृ संभावनाय, नैयायिकास्तु व्याप्यस्य पक्षधर्मताबलाद्व्यापकविशेषः पक्षधर्मः सिध्यति ततः [9]स्वतन्त्रमनुमानमीश्वर-निश्चायकमाहुः। तद्[10]दूषणं [11]प्रकटार्थे द्रष्टव्यम्। सामान्यतो दृष्टं रचयति। एतज्जगद्भोक्तॄणां कर्मणां च विभागं यो जानाति तत्पूर्वकं भवितुमर्हतीति प्रतिज्ञा। अत्र जगन्निमित्तदृष्टनिष्पत्त्यर्थो यो जीवानां प्रयत्नस्तत्पूर्वकत्वं जगतः सिद्धमिति सिद्धसाधनत्वं वदतां[12]निरीश्वरवादिनां निरासाय विशेषणं भोक्तृकर्मविभागज्ञेति। न हि जीवानामेते भोक्तारोऽस्मिन्देशे काले वाऽस्य कर्मफलस्येति विभागज्ञानं

सर्वात्मा सर्वशक्तिमान् ईश्वर सिद्ध हो जाता है तथापि शास्त्रार्थ निश्चय करने के लिये यहाँ पर यह अनुमान कहा गया है तो फिर भला उस ईश्वर के सद्भाव की सिद्धि कैसे होती है? इस पर बतलाते हैं। स्वर्ग, आकाश, पृथिवी, आदित्य, चन्द्रमा, ग्रह और नक्षत्रों के कारण विचित्र भासने वाला तथा नाना प्रकार के प्राणियों के उपभोग योग्य स्थान और साधनों से सम्बन्धित जो भी यह देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितृगण और पिशाचादिरूप जगत् है, वह जगत् अत्यन्त कुशल कलाकारों द्वारा भी निमार्ण किया जाना कठिन है। अतः यह देश, काल और निमित्त के अनुरूप नियमित प्रवृत्ति—निवृत्ति

---

१. अर्थवादत्वशङ्केति—ईश्वरविषयं शास्त्रं कर्मैवेश्वरत्वेन स्तौतीति शङ्केत्यर्थः। २. नियमायेति—अयमेव शास्त्रार्थ इत्येवम्। ३. सामान्यतो दृष्टमनुमानमिति—सामान्यतः कैवल्यपरिहारेणोभयविशिष्टतया दृष्टत्वात् सामान्यतो दृष्टमित्यन्वयव्यतिरेक्युच्यते। इति तार्किकरक्षा-टीकाकृतः। लक्षणान्तरं तत्रैव मूलोक्तं—दृष्टं सामान्यतो दृष्टमिति चास्य विधाद्वयं पूर्वं प्रत्यक्षयोग्यार्थं तदयोग्यार्थमुत्तरमिति विशेषतो दृष्टं सामान्यतो दृष्टमिति च द्विविधमनुमानं भवति तत्र प्रत्यक्षं योग्यार्थानुमापकं विशेषतो दृष्टं यथा धूमादिः नित्यातीन्द्रियार्थानुमापकं सामान्यतो दृष्टं यथा चक्षुराद्यनुमापकं रूपादिज्ञानमिति तत्र मूलकृद्व्याख्या। ४. शास्त्रानुग्राहकरूपमिति—शास्त्रोक्तार्थ- संभावकरूपमित्यर्थः। ५. ननु जगत् सकर्तृकं कार्यत्वाद्घटादिवदित्येतावतैवेश्वरसिद्धिः संभवति। न च पृथिव्यादिजन्माप्रसिद्धेस्तत्र हेत्वसिद्धिः शङ्क्यागुणक्रिया-दिमत्त्वेन भङ्गादिविकारदर्शनेन वासावयवत्त्वेन वा कार्यत्वानुमानात्। न च जीव एव कश्चित् कर्ता स्यात्तथा चार्थान्तरत्वं तस्याप्रसिद्धत्वात् स हि प्रसिध्यत्येव कुलालादिस्तत् किमर्थमियान् वागाडम्बरस्तन्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—अनादीति। अनादिव्यतिरिक्तमनादिभिन्नं सादीति यावत्। ६. प्रसिद्धकर्तृव्यतिरिक्तम्—अप्रसिद्धकर्तृकमित्यर्थः। ७. ईदृशं जगद्धर्मीकृत्य—पक्षीकृत्य यद्यपीश्वरः सिषाधयिषित इति शङ्कानुवादः। ८. उत्तरमाह—तथापीति। अजीवोऽपि भोगादिमत्तया संसार्येव भवेदीश्वर इति मा शङ्कीति बहूनि विशेषणानीत्यर्थः। नह्येवंविधकार्यकर्तृत्वं संसारिणो दृष्टमिति नासौ संसारी इति भावः। ९. स्वतन्त्रमिति—शास्त्रनिरपेक्षमेवानुमानं प्रमाणं न तु शास्त्रानुग्राहकमित्यर्थः। १०. दूषणं- खण्डनम्। ११. प्रकटार्थे तदाख्ये ग्रन्थे। १२. निरीश्वरवादिनामिति—मीमांसकादीनामित्यर्थः।

मरणरोगादिसंप्राप्ति[1]रज्ञानादत इहैव चेन्मनुष्योऽधिकृतः समर्थः सन्यद्यवेदीदात्मानं[2]यथोक्तलक्षणं विदितवा[3]न्यथोक्तेन प्रकारेण। अथ तदास्ति सत्यं मनुष्यजन्मन्यस्मिन्नविनाशोऽर्थवत्ता वा सद्भावो वा परमार्थता वा सत्यं विद्यते। न चेदिहावेदीदिति। न चेदिह जीवंश्चेदधिकृतोऽवेदीन्न विदितवांस्तदा महती दीर्घाऽनन्ता विनष्टिर्विनाशनं जन्मजरामरणादिप्रबन्धाविच्छेदलक्षणा संसारगतिस्तस्मादेवं [4]गुणदोषौ विजानन्तो [5]ब्राह्मणा भूतेषु भूतेषु सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु चैकमात्मतत्त्वं ब्रह्म विचित्य विज्ञाय साक्षात्कृत्य धीरा धीमन्तः प्रेत्य व्यावृत्य ममाहंभाव-लक्षणादविद्यारूपादस्माल्लोकादुपरम्य सर्वात्मैकत्वभावमद्वैतमापन्नाः सन्तोऽमृता भवन्ति इत्यर्थः। "स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इति श्रुतेः ।।१३।।५।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ केनो-पनिषत्पदभाष्ये द्वितीयः खण्डः ।।२।।

धनवत्त्वम्। सद्भावः साधुभावः ख्यातिः। एतदपि सर्वं ब्रह्मविदो भवतीति स्तुत्यर्थमुच्यते। परमार्थतो ब्रह्मरूपस्थितिस्तु फलमवश्यं भवतीत्यर्थः ।।१३।।५।।

इति द्वितीयः खण्डः ।।२।।

आत्मविद्या ही सार है

जिसमें सांसारिक दुःखों का बाहुल्य है, उन देवता, मनुष्य, तिर्यक् और प्रेतादि प्राणी समुदाय में अज्ञान के वशीभूत जन्म, जरा, मरण, रोगादि की प्राप्ति निःसन्देह अत्यन्त दुःख की बात है। अतः यदि किसी अधिकारी पुरुष ने इस लोक में ही पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त आत्मा को पूर्वोक्त प्रकार से जान लिया तो उसके इस मनुष्य जन्म में सत्य अर्थात् परमार्थता विद्यमान है और यदि इस लोक में जीवित रहता हुआ भी उस अधिकारी ने आत्मज्ञान प्राप्त नहीं किया तो उसे (जन्म, जरा, मरणादि परम्परा का विच्छेद न होना रूप) संसार गति की प्राप्ति अवश्य होगी, जो बड़ी भारी विनष्टि है। अतः इस प्रकार गुण और दोष को जानने वाले ब्रह्मण लोग चराचर सभी प्राणियों में एक ब्रह्मस्वरूप आत्मतत्त्व को साक्षात्कार कर ममता-अहंतारूप इस अविद्यास्वरूप लोक से ऊपर उठकर सब में आत्मैकत्वरूप अद्वयभाव को प्राप्त होकर अमर हो जाते हैं अर्थात् ब्रह्म ही हो जाते हैं। ऐसा ही "जो पुरुष निश्चय पूर्वक उस परब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है" इस श्रुति से भी सिद्ध होता है।।५।।

।। इति द्वितीय खण्ड ।।

---

१. अज्ञानादिति—न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिरिति श्रुतेरिति भावः। २. यथोक्तलक्षणं श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिनोक्तरूपमित्यर्थः। ३. यथोक्तेनेति—अन्यदेव तद्विदितादित्येवमादिरूपेणेत्यर्थः। ४. गुणदोषौ—वेदनावेदनयोरित्यादिः। ५. ब्राह्मणा इति—पूर्वं मनुष्योऽधिकृत इति सामान्यमुक्त्वा सम्प्रति ब्राह्मणा इति विशेषं ब्रुवन् तेषु वेदनभारं निक्षिपति। अयमाशयः—ब्राह्मणेतरोऽपि संश्चेदवेदीद्धन्यो चेन्नास्ति बलवती घृणा ब्राह्मणश्चेदवेदीन्न तावद्बहुमानो न चेन्महती घृणेत्यवश्यं वेदितव्यं ब्राह्मणेनेति।

भवितुमर्हति। कार्यत्वे सति यथोक्तलक्षणत्वात्। गृहप्रासादरथशयनासनादिवद्विपक्ष आत्मादिवत्। कर्मण एवेति चेत्। न, परतन्त्रस्य निमित्तमात्रत्वात्। यदिदमुपभोग-वैचित्र्यं प्राणिनां तत्साधनवैचित्र्यं च देशकालनिमित्तानुरूपनियतप्रवृत्तिनिवृत्तिक्रमं च

संभवति। विशेषानभिज्ञत्वादित्यर्थः। यथोक्तलक्षणत्वादिति। [1]विचित्रत्वादित्युक्ते व्यभिचारः स्यात्। [2]आत्मादिस्वभाववैचित्र्यस्य प्रयत्नपूर्वकत्वाभावात्तदर्थं कायत्वे सतीति विशेषणम्। कार्यत्वादित्युक्तेऽ[3]बुद्धिपूर्वकारिकार्ये विभागज्ञप्रयत्नपूर्वकत्वं नास्तीत्यनैकान्तिकत्वं स्यात्तदर्थं यथोक्तलक्षणत्वादिति। यद्विचित्रं तद्विभागज्ञप्रयत्नपूर्वकं यथा गृहादि जानात्येव हि तक्षादिरयं गृहादिरस्य स्वामिनो द्रव्यदानादिपूर्वकं वाऽस्य निर्माणमित्थं चेति ततो न साध्यवैकल्यं [4]यथाशब्दं हि साधनदूषणे। [5]नाभिप्रायवशात्। विपक्षे व्यतिरेक आत्मादिवदित्युदाहरणम्। यद्विभागज्ञप्रयत्नपूर्वकं न भवति तद्विशिष्टकार्यमपि न भवति। यथाऽऽत्मा[6]काशादीत्यन्वयव्यतिरेकप्रयोगइत्यर्थः। विचित्रकार्यत्वमस्तु विभागज्ञप्रयत्नपूर्वकत्वं न भविष्यति किं बाधकं जगद्वैचित्र्यस्य कर्मवैचित्र्यादेव संभवादतः पक्ष एव साध्याभावशङ्कया [7]शङ्कितविपक्षे वर्तमानो हेतुः शङ्कितव्यभिचार इत्यभिप्रेत्याऽऽह— कर्मण एवेति चेदिति। परिहरति— न परेति। कर्तृपरतन्त्रस्य कर्मणो निमित्तमात्रत्वा[8]त्स्वातन्त्र्येण निमित्तत्वासंभवात्कार्यवैचित्र्यस्य भङ्गप्रसङ्गो बाधकः कर्तारमन्तरेण। अतः पक्षे साध्याभावशङ्कानुपपत्तेर्न शङ्कितव्यभिचारित्वमिति भावः। संग्रहवाक्यस्य पूर्वपक्षभागं विवृणोति— यदिदमित्यादिना।

क्रमबद्ध यह जगत् भोक्ता और उसके क्रम के विभाग को जानने वाले किसी चेतन के प्रयत्नपूर्वक ही सम्भव हो सकता है क्योंकि कार्यरूप होने के कारण पूर्वोक्त लक्षणों वाला सिद्ध होता है। जैसा कि गृह, प्रासाद, रथ या शय्या और आसनादि सभी कार्यरूप अनित्य पदार्थ देखे जाते हैं तथा इनके विपरीत पक्ष में दृष्टान्त रूप आत्मा आदि नित्य पदार्थ हैं।

शंका :— यदि कहो कि कर्म से ही जगत् की उत्पत्ति होती है ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि परतन्त्र होने के कारण जगत् उत्पत्ति में निमित्त कर्म हो सकता है (मीमांसकों का कहना है) कि यह जो प्राणियों के उपभोग की विचित्रता है और उनके साधनों की विभिन्नता एवं देश, काल तथा निमित्त के अनुरूप नियमित प्रवृत्ति-निवृत्ति का क्रम है। वह किसी नित्य सर्वज्ञ का बनाया हुआ नहीं,

---

१. प्रतीकस्यार्थं वदंस्तावन्मात्रोक्तौ व्यभिचारमाह—विचित्रत्वादित्यादिना। २. आत्मादीति—आदिनाऽऽकाशादिग्रहस्तथा चात्मनो रूपमाकाशादिभ्यो विचित्रं विलक्षणं न च प्रयत्नपूर्वमिति व्यभिचारः स्यादित्यर्थः। अनादिरनिर्वाच्या मायैव वाऽऽदिशब्दग्राह्या। (आकाशादिरूपं चात्मविलक्षणम्) ३. अबुद्धिपूर्वकार्युन्मत्तादिस्तत्कार्येऽपि घुणाक्षरन्यायेन वैचित्र्ये तु भोक्तुरेवादृष्टानुकूलः प्रयत्नः। उन्मत्ताद्यन्तर्यामिण एव वा प्रयत्नः पक्षधर्मताबलात्सिध्यतीति भावः। ४. ननु साध्ये कर्मपदेन धर्माधर्मयोर्विवक्षितत्वात्तस्य च ज्ञानं तक्षादेर्न संभवतीति साध्यवैकल्यं तदवस्थमेवेत्यत आह—यथेतिशब्दात् प्रतीयमानमर्थमनुरुध्यैव साधनदूषणे भवतः। तथा च कर्मशब्देन प्रतीयमानगृहस्वामिकृतवेतनदानादेर्ज्ञानस्य तक्षादेः संभवान्न साध्यवैकल्यमिति भावः। ५. नाभिप्रायवशात्—पक्षे साध्यसमन्वयानुगुणविवक्षितशब्दार्थमादाय साधनदूषणे न भवत इत्यर्थः। ६. आकाशादीति—परमताभिप्रायकम्। ७. शङ्कितविपक्ष इति—पक्षविशेषणं तथा च साध्याभावशङ्कया शङ्कितविपक्षे पक्ष एव वर्तमान इत्यन्वयः। साध्याभाववत्वेन निश्चितस्तु विपक्ष एवोच्येत तद्वत्त्वेन शङ्कितस्तु शङ्कितविपक्ष इति भेदः। ८. स्वातन्त्र्येण निमित्तत्वासंभवादिति—कर्तैव हि स्वतन्त्रं निमितं भवति यदुक्तं स्वतन्त्रः कर्तेति कर्मणस्तु कर्तृजन्यत्वान्न कर्तृत्वमेव संभवतीति भावः।

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये 'अविज्ञातं विजानता विज्ञातमविजानताम्' इत्यादिश्रवणाद्यदस्ति तद्विज्ञातं प्रमाणैर्यन्नास्ति तदविज्ञातं शशविषाणकल्पमत्यन्तमेवासद्दृष्टम्। तथेदं ब्रह्माविज्ञातत्वादसदेवेति मन्दबुद्धीनां व्यामोहो मा भूदिति तदर्थेयमाख्यायिकाऽऽरभ्यते। तदेव हि ब्रह्म सर्वप्रकारेण प्रशास्तृ देवानामपि परो देव ईश्वराणामपीश्वरो दुर्विज्ञेयो देवानां जयहेतुरसुराणां पराजयहेतुस्तत्कथं नास्तीत्येतस्यार्थस्यानुकूलानि ह्युत्तराणि वचांसि दृश्यन्ते। अथवा ब्रह्मविद्यायाः स्तुतये। कथं? ब्रह्मविज्ञानाद्ध्यग्न्यादयो देवा देवानां श्रेष्ठत्वं जग्मुस्ततोऽप्यतितरामिन्द्र इति। अथवा दुर्विज्ञेयं ब्रह्मेत्येतत्प्रदर्श्यते। येनाग्न्यादयोऽतितेजसोऽपि क्लेशेनैव ब्रह्म विदितवन्तस्तथेन्द्रो देवानामीश्वरोऽपि सन्निति वक्ष्यमाणो[1]पनिषद्विधिपरं वा सर्वं ब्रह्मविद्याव्यतिरेकेण

उत्तरग्रन्थस्य प्रतीकमादाय [2]तात्पर्यमाह—ब्रह्मेत्यादिना। [3]अभिप्रेतं तात्पर्यमाह—वक्ष्यमाणेति। [4]उत्तमाधिकारिगोचर[5]मविषयं ब्रह्मात्मताज्ञानं पूर्वत्रोक्तमुत्तरत्र तु मन्दाधिकारिगोचरं सगुण-

---

देवताओं का गर्व

"जानने वालों के लिये ब्रह्म अविज्ञात और न जानने वालों के लिये ब्रह्म ज्ञात है" इत्यादि श्रुतियों के श्रवण से मन्दबुद्धि पुरुषों को व्यामोह न हो जाय कि जो वस्तु है, वह प्रमाणों से जान ली जाती है और जो वस्तु नहीं है, वह अविज्ञात शशविषाण के तुल्य अत्यन्त असद्रूप ही देखी गयी है। अतः अविज्ञात होने के कारण ब्रह्म भी असत् ही है। बस इसी व्यामोह को दूर करने के लिये यह आख्यायिका प्रारम्भ की जाती है। सभी प्रकार से शासक देवताओं का भी परम देव, ईश्वरों का भी परमेश्वर, दुर्विज्ञेय देवताओं की विजय का कारण और असुरों की पराजय का कारण वह ब्रह्म ही है। फिर भला वह कैसे नहीं है; इस अर्थ के अनुकूल ही इस खण्ड के अग्रिम वाक्य देखे जाते हैं।

अथवा ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिये (यह आख्यायिका) प्रारम्भ की जाती है। कैसे? क्योंकि ब्रह्मज्ञान से ही अग्नि आदि देवगण देवताओं में श्रेष्ठता को प्राप्त हुए थे। उनमें भी इन्द्र सबसे बढ़-चढ़ कर हुआ।

अथवा ब्रह्म दुर्विज्ञेय है, वह बात इस आख्यायिका से दिखलायी गयी क्योंकि परम तेजस्वी होते हुए भी अग्नि आदि कठिनाई से ही ब्रह्म को जान सके थे और देवताओं का स्वामी होता हुआ भी इन्द्र बड़ी कठिनाई से उस तत्त्व को जान सका था।

अथवा यह आख्यायिका आगे कहे जाने वाली सम्पूर्ण उपनिषद् विधिपरक है, या ब्रह्मविद्या से

---

१. उपनिषदुपास्तिः। २. अविवक्षितं गौणमिदं तात्पर्यम्। ३. अभिप्रेतं मुख्यम्। ४. उत्तमाधिकारिगोचरं तन्निमित्तं तदुद्देश्यकमिति यावत्। ५. अविषयमिति—ब्रह्मात्मनो यत्र विषयतया न भानं तदित्यर्थः।

तन्न नित्यसर्वज्ञकर्तृकम्। किं तर्हि कर्मण एव [१]तस्या[२]चिन्त्यप्रभावत्वात्सर्वैश्च फलहेतुत्वाभ्युपगमात्। सति कर्मणः फलहेतुत्वे किमीश्वराधिककल्पनयेति न नित्यस्येश्वरस्य नित्यसर्वज्ञशक्तेः फलहेतुत्वं चेति चेत्। न कर्मण एवोपभोगवैचित्र्याद्युपपद्येत। कस्मात्। कर्तृतन्त्रत्वात्कर्मणः। चितिमत्प्रयत्ननिर्वृत्तं हि कर्म तत्प्रयत्नोपरमादुपरतं सद्देशान्तरे कालान्तरे वा नियतनिमित्तविशेषापेक्षं कर्तुः फलं जनयिष्यतीति [३]न युक्तमनपेक्ष्यान्य[४]दात्मनः प्रयोक्तृ, कर्तैव फलकाले प्रयोक्तेति चेन्मया निर्वर्तितोऽसि त्वां प्रयोक्ष्ये फलाय यदात्मानुरूपं फलमिति, न, देशकालनिमित्तविशेषानभिज्ञत्वात्। यदि हि कर्ता देशविशेषाभिज्ञः सन्स्वातन्त्र्येण कर्म नियुञ्ज्यात्ततोऽनिष्टफलस्याप्रयोक्ता

यदिदमीश्वरवादिभिरपि वैषम्यनैर्घृण्यदोषपरिहाराय कर्मणो जगद्वैचित्र्यहेतुत्वमिष्टं तत्[५]संप्रतिपन्नं विहायापूर्व ईश्वरः कल्प्यते धर्मी तस्य फलहेतुत्वं च धर्मः कल्पनीय इति गौरवं स्यादित्याह—न नित्यस्येश्वरस्येति। **सति लाघवे गौरवं दूषणं स्यान्नेह तदस्तीत्यभिप्रेत्य सिद्धान्तं विवृणोति—** न कर्मण एवेत्यादिना। **आत्मनोऽन्यत्प्रवर्तकमनपेक्ष्य कर्म चेन्न फलं जनयति, तर्हि कर्ता जीव एव प्रयोजकोऽस्त्विति शङ्कित्वा परिहरति—** कर्तैवेत्यादिना। **अनिष्टफलभोगसिद्ध्यन्यथानुपपत्त्या कर्तुः कर्मनियोक्तृत्वं न संभवति चेत्तर्हि निर्निमित्तमेव कर्म फलाकारेण परिणमत इति[६]जरत्कर्ममीमांसकानां**

तो फिर किसका है? यह तो केवल कर्म का ही फल है क्योंकि कर्म अचिन्तनीय प्रभाव से युक्त है एवं फल के कारणरूप से कर्म को सभी ने स्वीकार किया है। इस प्रकार फल के हेतुरूप से कर्म को स्वीकार कर लेने पर इससे अधिक ईश्वर कल्पना से क्या लाभ है। अतः नित्य सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर में फल हेतुत्व नहीं है।

समाधान :— कर्ममात्र से ही प्राणी के उपभोग की विचित्रता आदि कहना युक्ति-युक्त नहीं हे, क्योंकि कर्म कर्त्ता के अधीन होता हे, चेतन पुरुष के प्रयत्न से सम्पन्न हुआ कर्म उसके प्रयत्न के हटते ही निवृत्त हो जाता है, पुनः वह देशान्तर अथवा कालान्तर में किसी निश्चित निमित्त की विशेष अपेक्षा से ही कर्त्ता को फल दे सकेगा। ऐसी स्थिति में यह कहना उचित नहीं है कि कर्म अपने किसी प्रवर्तक की अपेक्षा किये विना ही फल दे देता है। यदि कर्त्ता जीव को ही फल देने में (कर्मानुसार फल का) प्रवर्तक माना जाय तो (उस समय कर्त्ता अपने से निष्पादित कर्म को कहेगा) मैंने तुझे निष्पन्न किया था, अब मैं ही तुझे फल देने के लिये प्रवृत्त कर रहा हूँ। अतः आत्मानुरूप ही मुझे फल दे, किन्तु ऐसा कहना सम्भव नहीं है क्योंकि कर्त्ता जीव, देश, काल और निमित्त विशेष से सर्वथा अनभिज्ञ है। यदि कर्त्ता जीव ही देशादि विशेष का ज्ञाता होता हुआ फल देने के लिये स्वतन्त्रतापूर्वक कर्म को प्रवृत्त करेगा तो अनिष्ट फल के लिये उसे कभी प्रेरणा नहीं दे

---

१. तस्य—कर्मणः। २. अचिन्त्यप्रभावत्वादिति—"गहना कर्मणो गति"रिति भगवदुक्तेरिति भावः। ३. न युक्तमित्यादि—न हि धनुर्निर्मात्रा निर्मितमेव धनुर्धानुष्कचोदनां विना प्रहरणं भवतीति सुप्रसिद्धमेवेति भावः। ४. आत्मन इति—स्वस्य स्वस्माद्वा। ५. संप्रतिपन्नम्—उभयसंमतम्। ६ जरदिति—प्राचीनेत्यर्थः। कर्मेति ब्रह्ममीमांसकव्यावृत्तये विशेषणम्। (जीर्यतेरतृन्)

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो
विजये देवा अमहीयन्त। त ऐक्षन्तास्मा-
कमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ।।१४।।१।।

यह प्रसिद्ध है कि पूर्वोक्त ब्रह्म ने (देवासुर संग्राम में) देवताओं के लिये (असुरों को) जीता। उसी ब्रह्म की विजय में देवता लोग महिमान्वित हुए (उस बात को भूलकर) देवताओं ने सोचा, यह विजय हमारी ही है और यह महिमा भी हमारी ही है।।१।।

प्राणिनां कर्तृत्वाद्यभिमानो मिथ्येत्येतद्दर्शनार्थं वाऽऽख्यायिका। यथा देवानां जयाद्यभिमानस्तद्वदिति। ब्रह्म[1]यथोक्तलक्षणं परं ह किल [2]देवेभ्योऽर्थाय विजिग्ये जयं लब्धवद्देवानामसुराणां च सङ्ग्रामेऽसुराञ्जित्वा [3]जगदरातीनी[4]श्वरसेतुभेतॄन्देवेभ्यो जयं तत्फलं च प्रायच्छज्जगतः स्थेम्ने। तस्य ह किल ब्रह्मणो विजये देवा अग्न्यादयोऽमहीयन्त महिमानं प्राप्तवन्तस्तदाऽऽत्मसंस्थस्य प्रत्यगात्मन ईश्वरस्य सर्वज्ञस्य सर्वक्रियाफलसंयोजयितुः प्राणिनां सर्वशक्तेर्जगतः स्थितिं चिकीर्षोरयं जयो महिमा चेत्यजानन्तस्ते देवा ऐक्षन्तेक्षितवन्तोऽग्न्यादिस्वरूपपरिच्छिन्नात्मकृतोऽस्माकमेवायं विजयोऽस्मा-

---

ब्रह्मोपासनं वक्ष्यते। [5]तत्परं वक्ष्यमाणं सर्ववाक्यजातं [6]स्पष्टविधिदर्शनात्। अतोऽत्रैव तात्पर्यमर्थान्तरतात्पर्यप्रदर्शनं तु संभावनामात्रेणेति द्रष्टव्यम्। ईश्वरस्य सेतवो मर्यादा वर्णाश्रमादिधर्मास्तद्भेदकान्। जगतः स्थेम्ने स्थैर्याय।।१४।।१।।

भिन्न प्राणियों का कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि अभिमान मिथ्या है। जिस प्रकार देवताओं का विजय आदि का अभिमान है, वैसे ही अन्य व्यक्ति का अभिमान भी मिथ्या ही है। इस बात को बतलाने के लिये यह आख्यायिका है।

यह प्रसिद्ध है, पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त परब्रह्म ने देवताओं के लिये विजय प्राप्त की अर्थात् देवासुर संग्राम में संसार के शत्रु एवं ईश्वर की मर्यादा भंग करने वाले असुरों को जीतकर जगत् की

---

१. यथोक्तलक्षणमिति—श्रोत्रादेः श्रोत्रादिरूपमित्यर्थः। २. देवेभ्योऽर्थायेति—अनेन देवेभ्यो इति तादर्थ्ये चतुर्थीति सूच्यते देवानां कृते इत्यर्थः। ३. जगदरातीनिति—"प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिता" इति स्मृतेः। ४. जगदरातित्वाय विशिनष्टि—ईश्वरेति। ५. तत्परमिति—वक्ष्यमाणसगुणब्रह्मोपासनविधेरर्थवादविधया शेषभूतमिति यावत्। ६. स्पष्टविधिदर्शनादिति—तस्यैष आदेश इत्यादाविति शेषः। विधेश्चेतिकर्तव्यतात्वेनार्थवादसापेक्षत्वादेवेति भावः।

स्यात्। [१]न च निर्निमित्तं तदनिच्छया[२]ऽऽत्मसमवेतं तच्चर्मवद्विकरोति कर्म। नचाऽऽत्मकृतमकर्तृसमवेतमयस्कान्तमणिवदाक्रष्टृ भवति प्रधानकर्तृसमवेतत्वात्कर्मणः। भूताश्रयमिति चेन्न साधनत्वात्। [३]कर्तृक्रियायाः साधनभूतानि भूतानि क्रियाकाले[४]ऽनुभूतव्यापाराणि समाप्तौ च हलादिवत्कर्त्रा [५]परित्यक्तानि न फलं कालान्तरे कर्तुमुत्सहन्ते [६]न हि हलं क्षेत्राद्व्रीहीन्गृहं प्रवेशयति [७]भूतकर्मणोश्चाचेतनत्वा[८]त्स्वतःप्रवृत्त्यनुपपत्तिः।

मतमाशङ्क्याऽऽह—न च निर्निमित्तमिति। [९]कर्तुरनिच्छया कर्म विकरोतीत्यत्र दृष्टान्ताभावा[१०]च्चर्मणोऽपि विकारस्य[११]सनिमित्तत्वादित्यर्थः। [१२]यच्च सौगतेनोच्यते फलकालपर्यन्तं कर्तुरवस्थानाभावान्न कर्तृसमवेतं कर्म किंतु क्षणिकविज्ञानेनाऽऽत्मना कृतं कदाचित्फलस्याऽऽक्रष्टृ भवति। यथाऽयस्कान्तो मणिः कदाचिच्चेतनेन [१३]प्रयुक्तो [१४]ऽन्यदाऽपि लोहस्य प्रेरको भवति तद्वदिति तत्राऽऽह—न चाऽऽत्मकृतमिति। करणादीनि कारकाणि यः प्रेरयन्करोति स [१५]प्रधानकर्ता। तत्समवेतं कर्म [१६]प्रसिद्धं [१७]तस्य च फलकालपर्यन्तं स्थायित्वमेष्टव्यम्। अन्यथाऽकृताभ्यागमकृतविप्रनाप्रसङ्गा[१८]त्प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्याच्चेत्यर्थः। लोकायतिकाभिप्रायमुद्भाव्य दूषयति—भूताश्रयमित्यादिना। [१९]आधुनिककर्ममीमांसकानां मतमुद्भावयति—

सकता। इसके अतिरिक्त बिना निमित्त के कर्त्ता की इच्छा के बिना जीवात्मा के साथ समवाय सम्बन्ध से रहने वाला कर्म स्वयं ही चमड़े की भाँति विकार को प्राप्त नहीं हो सकता।

(यदि आत्मा क्षणिक विज्ञानरूप माना जाय तो ऐसे) आत्मा का किया हुआ कर्म कर्त्ता में समवेत न होकर चुम्बक पत्थर की भाँति अपने स्वयं ही हल्का आकर्षक नहीं हो सकता क्योंकि कर्म का कर्त्ता के साथ नित्य सम्बन्ध है। यदि कहो कि कर्म भूतों के आश्रित है, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि भूत तो केवल क्रिया के साधन हैं, कर्त्ता की क्रिया के साधनरूप भूत क्रिया काल में उसके व्यापार का अनुभव करते हैं एवं व्यापार के समाप्त होते ही हल आदि की भाँति कर्त्ता द्वारा त्याग दिये जाते हैं। ऐसे भूत कालान्तर भावी फल देने में समर्थ नहीं हो सकते। हल धान्यों को खेत से उठा

---

१. ननु यथा शरीरे चर्म वर्धतेऽपक्षीयते च शोफस्फोटादिविकारं च लभते न च तत्र कर्तुःशरीरिण इच्छादिनिमित्तं भवति तद्वत्कर्मविकारो निर्निमित्त एव स्यादितयाशङ्क्य परिहरति—न च निर्निमित्तमित्यादिना चर्मविकारस्यापि कर्मनिमित्तकत्वाद् दृष्टान्तासिद्धिरिति भावः। २. आत्मसमवेतमिति—आत्मसंबद्धमित्यर्थः। ३. कर्तृक्रियायाः साधनभूतानीति शरीराकारेण परिणतानि भूतानि न कर्ता भवितुमर्हन्ति करणत्वाल्लाङ्गलादिवदिति भावः। ४. भूतानां करणत्वं स्फुटयति—अनुभूतव्यापाराणीति। सव्यापाराणीति यावत्। ५. परित्यक्तानीति—प्रस्तुतव्यापारपराङ्मुखीकृतानीति यावत्। ६. करणत्वेनानुभूयमानस्यापि कर्माश्रयत्वाभ्युपगमे कर्तृत्वापत्त्या नेदमुपपद्येतेत्याशयेनाह—न हीति। ७. इतश्च भूतकर्मप्रयोक्ता चेतनोऽभ्युपगन्तव्य इत्याह—भूतकर्मणोश्चेत्यादिना। ८. स्वत इति—चेतनाधिष्ठानमनपेक्ष्येत्यर्थः। ९. कर्तुरनिच्छयेति—कर्म न कर्त्रनिच्छया विकर्तुमर्हति कर्तृसमवेतत्वात्तच्चर्मवदिति भावः। १०. ननु चर्मविकार एव दृष्टान्तो भविष्यतीत्यत आह—चर्मणोऽपीति। ११. सनिमित्तत्वादिति—कर्मनिमित्तकस्य परम्परयेच्छानिमित्तकत्वं दुर्वारं कर्मण इच्छामूलकत्वादिति भावः। १२. स्वरूपासिद्ध्या सौगतचोद्यमनूद्य दूषयितुमाह—यच्चेति। १३. प्रयुक्त इति—लोहाभिमुख्येन स्थापित इति यावत्। १४. अन्यदाऽपीति—प्रयोगकालादन्यस्मिन् कालेऽपीत्यर्थः। १५. प्रधानकर्तेति—कारकेषु प्रधानश्चासौ कर्ता चेत्यर्थः। १६. प्रसिद्धमिति—तथा च न कर्तृसमवेतं कर्मेति सौगतमतं प्रसिद्धिविरोधेन बाधितमिति भावः। १७. तस्य—प्रधानस्य कर्तुः। १८. योऽहमचूचुरं सोऽहमिदानीं कारागारं प्रवेशित इत्यादिप्रत्यभिज्ञाबलाच्च कर्तुः स्थायित्वमेव प्रामाणिकमित्याह—प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्याच्चेति। १९. आधुनिकेति—नवीनेत्यर्थः।

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति ।।१५।।२।।

देवताओं के (इस मिथ्या) अभिप्राय को उस ब्रह्म ने जान लिया (और वह) देवताओं के सामने (अपने योगमाहात्म्य से निर्मित यक्ष रूप में) प्रकट हुआ। (तब देवता लोग) उसे न जान सके कि यह यक्ष कौन है।।२।।

कमेवायं महिमाऽग्निवाय्विन्द्रत्वादिलक्षणो जयफलभूतोऽस्माभिरनुभूयते नास्मत्प्रत्यगात्मभूतेश्वरकृत इति ।।१४।।१।।

एवं मिथ्याभिमानेक्षणवताम्—

तद्ध किलैषां मिथ्येक्षणं विजज्ञौ विज्ञातवद्ब्रह्म। सर्वेक्षितृ हि तत्सर्वभूतकरण-प्रयोक्तृत्वाद्देवानां च मिथ्याज्ञानमुपलभ्य मैवासुरवद्देवा मिथ्याभिमानात्पराभवेयुरिति तदनुकम्पया देवान्मिथ्याभिमानापनोदनेनानुगृह्णीयामिति तेभ्यो ह किलार्थाय प्रादुर्बभूव

स्वयोगमाहात्म्यनिर्मितेन सत्त्वरजस्तमसां त्रयाणां गुणानां योगो [1]युक्ति[2]र्घटनं माया तन्माहात्म्ये

स्थिति के लिये उस विजय और उसका फलदेवताओं को दे दिया। उस ब्रह्म की विजय में अग्नि आदि देवगण महिमा को प्राप्त हुए, यह बात भी प्रसिद्ध है।।१।।

यक्ष का प्रादुर्भाव

उस समय अन्तःकरण में स्थित अन्तरात्मा सम्पूर्ण प्राणियों के कर्मफल का संयोजक सर्वशक्तिमान् जगत् स्थिति को चाहने वाले ईश्वर की ही यह सम्पूर्ण विजय और महिमा है। इस बात को न जानने के कारण और आत्मा को अग्नि आदि रूपों में परिच्छिन्न मानने के कारण देवताओं ने समझा कि हम लोगों की ही यह विजय हुई है और विजय के फलस्वरूप अग्नि, वायु और इन्द्रभाव रूप यह महिमा भी हमारी है और हम ही इसका अनुभव करते हैं। यह विजय या महिमा हमारे अन्तरात्मरूप किसी ईश्वर की नहीं है। ऐसे मिथ्याभिमान से विभ्रान्त उन देवताओं के इस मिथ्या ज्ञान को ब्रह्म ने जान लिया क्योंकि वह सम्पूर्ण जीवों के अन्तःकरणों का प्रेरक होने से सबका द्रष्टा है। कहीं इस मिथ्या ज्ञान को प्राप्त कर इस मिथ्या ज्ञान से असुरों की भाँति देवों का भी पराभव न हो जाय। इस प्रकार दयापूर्वक देवताओं के मिथ्या ज्ञान को निवृत्त कर मैं उन्हें अनुगृहीत करूँ। ऐसा विचार

---

१. योगो न संबन्धमात्रं तेषां तस्य सदातनत्वेन तादृशविचित्ररूपस्यापि तथात्वापातादतो व्याचष्टे—युक्तिरिति। २. तां विशदयति—घटनमिति। यथापेक्षं गुणप्रधानीभावेन विवर्तनमिति यावत्। सा च माया यथा ह्यैन्द्रजालिको राजसादिकतिपयपदार्थान्क्रमकालविन्यासादिभेदैर्घटयित्वा नानाविचित्रार्थान्दर्शयन्मायां करोतीत्युच्यते तद्वत्।

[1]वायुवदिति चेन्नासिद्धत्वात्। न हि वायोरचितिमतः स्वतःप्रवृत्तिः [2]सिद्धा रथादिष्वदर्शनात्। शास्त्रात्कर्मण एवेति चेच्छास्त्रं हि क्रियातः फलसिद्धिमाह ने[3]श्वरादेः स्वर्गकामो यजेतेत्यादि। न च प्रमाणाधिगतत्वादानर्थक्यं युक्तम्। न चेश्वरास्तित्वे प्रमाणान्तरमस्तीति चेत्। न दृष्टन्यायहानानुपपत्तेः। क्रिया हि द्विविधा दृष्टफलाऽदृष्टफला च।

शास्त्रादित्यादिना। **यजेतेत्याख्यातपदात्सामान्येन [4]समीहितसाधनं यागः [5]प्रतीयते। कस्य समीहितस्य साधनमितिविशेषाकाङ्क्षायां स्वर्गकामपदसंनिधानात्काम्यमानस्वर्गसाधनत्वं यद्यप्यवगम्यते तथाऽपि [6]क्षणिकस्य यागस्य कालान्तरीयस्वर्गसाधनत्वासंभवान्निष्फलत्वं शङ्क्येतेत्याशङ्क्याऽऽह**—न चेति। **औषधपानादेः कर्मणः [7]स्थायिसंस्कारद्वारेण कालान्तरीयारोग्यादिफलहेतुत्वप्रसिद्धेर्यागस्य श्रुतसाधनत्वनिर्वाहाय स्थाय्यवान्तरापूर्वं परिकल्पयते तेन नत्वानर्थक्यं निर्दोषवाक्याधिगतत्वादित्यर्थः। श्रुतसाधनत्वसिद्ध्यन्यथानुपपत्त्या किमितीश्वर एव नेष्यते तत्राऽऽह**—न चेश्वरेति। **नेयमर्थापत्तिरीश्वरास्तित्वे प्रमाणमन्यथाऽप्युपपन्नत्वात्। न च मानान्तरमस्ति। तद्विषयश्रुत्यादे[8]रर्थवादत्वादित्यर्थः। नापूर्वद्वारेण श्रुतनिर्वाहः कल्पनीयः। यद्[10]व्यवहितफलं कर्म तच्चैतन्यप्रयुक्तफलमिति [11]दृष्टाया व्याप्तेर्हानिप्रसङ्गादतः श्रुतसाधनत्वसिद्ध्यन्यथानुपपत्त्येश्वरः फलदाता कल्पनीय इत्याह**—न दृष्टेति। **संग्रहवाक्यं विवृणोति**—क्रिया हीत्यादिना। **फलोदयेनापवर्गो नाशो यस्याः सा फलापवर्गिणी न**

कर घर में प्रवेश नहीं कराता है। अतः अचेतन होने के कारण न भूतों में और न कर्मों में ही फल देने के लिये स्वतः प्रवृत्ति सम्भव है। यदि कहो कि अचेतन वायु की भाँति उनकी प्रवृत्ति स्वतः हो सकती है, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि अचेतन वायु की स्वतः प्रवृत्ति सिद्ध न होने के कारण यह पक्ष भी असिद्ध है। रथादि अचेतन पदार्थों में स्वतः प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है।

(मीमांसक) शास्त्रानुसार कर्म से ही फल मिलता है **"स्वर्गकामो यजेत"** इत्यादि शास्त्र क्रिया से ही फल की सिद्धि बतलाता है, ईश्वर आदि से नहीं। इस प्रकार प्रमाण सिद्ध होने के कारण इस पक्ष को अनर्थक कहना ठीक नहीं। साथ ही ईश्वर की सत्ता में भी (अनुमान एवं अर्थापत्ति को छोड़कर) अन्य कोई प्रमाण नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि दृष्टन्याय को त्यागना अनुचित है। दृष्टफल एवं

---

१. अचेतनप्रवृत्तेश्चेतनाधिष्ठानपूर्वकत्वव्यभिचारं शङ्कते—वायुवदिति चेदिति। २. सिद्धा—निश्चिता प्रमाणेनेत्यर्थः। ३. ईश्वरादेः—सकाशादित्यर्थः। ४. समीहितसाधनमिति—आख्यातस्य भावनावाचकत्वेऽपि यागस्येष्टसाधनत्वं भावनागर्भलिङ्गकानुमानादवगन्तव्यम् (वाचकत्वेऽपीत्यपिस्त्वर्थस्तादृग्भट्टमते त्वित्यर्थः)। तथाहि प्रयोगः—विमतमिदमिष्टसाधनमप्यत्र प्रवर्ततामित्याकारकाप्तनिष्ठव्यापारविशेषविषयत्वाद्यन्नैवं तन्नैवं यथा प्रतारकवाक्योपस्थितिमिति। ५. प्रतीयत इति—इष्टसाधनत्वमेव प्रवर्तनात्वेन रूपेण वेदे लिङ्गाद्यर्थ इति हि मण्डनमिश्रा वदन्तीत्यवधेयम्। ६. इदं देवतायै न ममेत्येवं देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागरूपस्य यागस्य मनः संकल्पमात्रतया क्षणमात्रावस्थायित्वादाह—क्षणिकस्येति। ७. स्थायिसंस्कारद्वारेणेति—स्थायिनो ये संस्कारा औषधस्यैव कालादिसंस्कृताः सूक्ष्मावयवास्तद्द्वारेति मर्मार्थः। ८. तद्विषयेति—ईश्वरप्रतिपादकेत्यर्थः। ९. अर्थवादत्वादिति—कर्मणामेव फलदातृत्वेन राजादीश्वरतुल्येश्वरत्वेन स्तुतिपरत्वादित्यर्थः। १०. व्यवहितेति—कालान्तरितेत्यर्थः। ११. दृष्टायाः—राजादिप्रयुक्ते भृत्यादिफले दृष्टाया इत्यर्थः।

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति ।।१६।।३।।

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ।।१७।।४।।

उन देवताओं ने अग्नि से कहा—हे जातवेद! इसे जानो तो सही, कि यह यक्ष कौन है? अग्नि ने कहा—अच्छी बात।।३।।

(अग्निदेव) उस यक्ष के पास गया। (कुछ पूछने की इच्छा से आये हुए उस) अग्नि से यक्ष ने पूछा—तू कौन है? उसने कहा—मैं अग्नि हूँ, निश्चय ही मैं जातवेदा हूँ।।४।।

स्वयोगमाहात्म्यनिर्मितेनात्यद्भुतेन विस्मापनीयेन रूपेण देवानामि[१]न्द्रियगोचरे प्रादुर्बभूव। तत्प्रादुर्भूतं ब्रह्म न व्यजानत नैव विज्ञातवन्तो देवाः। किमिदं [२]यक्षं पूज्यं महद्[३]भूतमिति ।।१५।।२।।

ते तदजानन्तो देवाः सान्तर्भयास्तद्विजिज्ञासवो[४]ऽग्निमग्रगामिणं [५]जातवेदसं [६]सर्वज्ञकल्पमब्रुवन्नुक्तवन्तो हे जातवेद एतदस्मद्गोचरस्थं यक्षं विजानीहि विशेषतो बुध्यस्व त्वं नस्तेजस्वी किमेतद्यक्षमिति। तथाऽस्त्विति। तद्यक्षमभ्यद्रवत्तत्प्रतिगतवानग्निः।

न निर्मितं ते नेत्यर्थः ।।१५।।२।।

कर अपनी योगमाया के प्रभाव से सबको आश्चर्य में डालने वाले अति अद्भुत रूप से युक्त हो, वह ब्रह्म देवताओं की इन्द्रियों का विषय होकर प्रकट हो गया। उस प्रादुर्भूत ब्रह्म को देव लोग न जान सके कि यह पूजनीय महान् कौन है।।२।।

अग्नि की परीक्षा

उस यक्ष को न जानने वाले देवताओं ने भीतर ही भीतर डरते हुए उसे जानने की इच्छा से सर्वप्रथम सर्वज्ञकल्प जातवेदा अग्रगामी अग्नि से कहा कि हे जातवेद! हमारे समक्ष स्थित इस यक्ष को जानो अर्थात् विशेषरूप से समझो कि यह हम सब में अधिक तेजस्वी यक्ष कौन है।।३।।

बहुत अच्छा, ऐसा कहकर अग्नि उस यक्ष की ओर अत्यन्त तेजी से गया। इस प्रकार गये हुए (यक्ष के तेज से) तेजहीन हो जाने के कारण अपने समीप में चुपचाप खड़े हुए कुछ पूछने की इच्छा

---

१. इन्द्रियगोचर इति—इन्द्रियसंनिकर्षयोग्ये देश इति यावत्। २. यक्ष पूजायामित्यतः कर्मणि घञित्यभिप्रायेणाह—यक्षं पूज्यमिति। ३. भूतम्—सत्त्वम्। ४. अग्निमग्रगामिणमिति—तदुक्तं निरुक्ते अग्निः कस्मादग्रणीर्भवतीति उत्तरषट्के दैवतकाण्डे चतुर्थपादे। ५. जातवेदसं सर्वज्ञकल्पमिति—तथा च निरुक्तं "जातवेदाः कस्माज्जातानि वेदेत्यादि।" उ. ष. दै. ५ पा. १। ६. जातं जनिमत्सर्वं वेत्तीति जातवेदा इति व्युत्पत्तिमाश्रित्याह—सर्वज्ञकल्पमिति। ब्रह्मण एव निरतिशयसार्वज्ञ्यात्कल्पप्रयोगः।

दृष्टफलाऽपि द्विविधाऽनन्तरफलाऽऽगामिफला च, अनन्तरफला गतिभुजिलक्षणा। कालान्तरफला च कृषिसेवादिलक्षणा। तत्रानन्तरफला फलापवर्गिण्येव, कालान्तरफला तूत्पन्नप्रध्वंसिनी। आत्मसेव्याद्यधीनं हि कृषिसेवादेः फलं यतो न चो[२]भयन्यायव्यतिरेकेण स्वतन्त्रं कर्म ततो वा फलं दृष्टम्। [३] तथा च कर्मफलप्राप्तौ न दृष्टन्यायहानमुपपद्यते। तस्माच्छान्ते यागादिकर्मणि नित्यः कर्तृकर्मफलविभागज्ञ ईश्वरः सेव्यादिवद्यागाद्यनुरूपफलदातोपपद्यते स चाऽऽत्मभूतः सर्वस्य सर्वक्रियाफलप्रत्ययसाक्षी नित्य-

---

फलदातारं [४] पृथगपेक्षत इत्यर्थः। उत्पन्नप्रध्वंसिनीति। उत्पन्ना सती फलमदत्त्वैव प्रध्वंसते ततस्तत्र फलदाता कालान्तरेऽपेक्ष्यत इत्यर्थः। यागादिफलं कर्माद्यभिज्ञेन दीयमानं व्यवहितफलत्वात्सेवाफलवदित्याह—तस्माच्छान्ते यागादीति। ननु जीवस्तावत्स्वोपभोगसाधननियन्ता, तस्यापीश्वरः फलदानेन नियन्ता चेदिष्यते तर्हि नियन्तुः स्वव्यतिरिक्तनियम्यत्वाङ्गीकारादीश्वरस्याप्यन्यो नियन्ता [५] प्रसज्येत नियन्तृत्वाविशेषात्। अतोऽनवस्थाप्रसङ्गबाधितमनुमानमित्याशङ्क्याऽऽह—स चाऽऽत्मभूतः सर्वस्येति। [६] कल्पितभेदमात्रेण नियम्यनियामकभावोपपत्तेर्न तात्त्विकभेदावकाशः। [७] तात्त्विकभेदवत्त्वे च घटादिवत्कार्यत्वादिप्रसङ्गस्ततोऽतिरिक्तनियम्यत्वव्याप्त्यभावान्नानवस्थाप्रसङ्ग इत्यर्थः। राजवदीश्वरः फलदाता चेत्तर्हि निग्रहानुग्रहकर्तृत्वाद्रागादिमान्स्यात्तत्राह— सर्वक्रियाफलेति। यथा लौकिकसाक्षी कस्यचिज्जयहेतुरन्यस्य पराजयहेतुरपि न रागादिमान्कथ्यते। यथोपलब्धभाषित्वात्। तथेश्वरः क्रियादिसाक्षी रागादिमान्न भविष्यति। अननुरूपादातृत्वात्। राजाऽप्यसाधून्दण्डयन्साधून्परिरक्षन्न रागादिमान्कथ्यत इति भावः। [८] साक्षित्वे तर्हीश्वरस्येक्षणक्रिया स्यात्तत्राऽऽह—नित्येति।

अदृष्टफल वाली क्रिया दो प्रकार की है। दृष्टफल क्रिया के भी दो भेद हैं, तात्कालिक फल देने वाली (और इसी जीवन में) भावी फल देने वाली। इनमें गमन और भोजन आदि क्रियाएँ तात्कालिक फल देने वाली हैं तथा कृषि और सेवा आदि क्रियाएँ (किञ्चित् विलम्ब से) कालान्तर में फल वाली हैं।

---

१. आत्मा-स्वयं कर्षक इत्यर्थः। २. उभयन्यायव्यतिरेकेण स्वतन्त्रमिति-यथोक्तनियमद्वयमनपेक्ष्य जायमानमिति समुदायार्थः। ३. कालान्तरितादृष्टफला यागादिक्रिया कालान्तरादृष्टफलसेवादिसाम्यातिक्रमं नार्हतीत्युपसंहरन्नाह-तथा चेति। कर्मणी यथोक्तनियमद्वयातिलङ्घिनोऽसंभवे सतीत्यर्थः। ४. पृथगिति—कर्तुःसकाशात् पृथगित्यर्थः। ५. प्रसज्येतेति—ईश्वरः स्वव्यतिरिक्तनियम्यो नियन्तृत्वाज्जीववदिति प्रयोगसंभवादिति भावः। ६. दृष्टान्ते साध्यवैकल्येनोक्तानुमानं दूषयन्नाह—कल्पितेत्यादि। न च कल्पितभेदवतोर्नियम्यनियन्तृभावादर्शनादिदमसंगतमिति वाच्यं भेदमात्रस्याकल्पितत्वासंप्रतिपत्तेः। ततो जीवेशौ तात्त्विकभेदवन्तौ नियम्यनियामकत्वादितिनानुमातुं शक्यं दृष्टान्तासंभवादिति भावः। न चैवं न तात्त्विकभेदावकाश इति तात्त्विकभेदनिषेधोऽसंभवी प्रतियोग्यनुपस्थितेरिति शंकावकाशो भ्रान्त्योपस्थितनिषेधानुपरोधादित्यलम्। ७. तुष्यतु दुर्जन इति न्यायेन घटादीनां तात्त्विकभेदमभ्युपगम्याप्याह—तात्त्विकभेदवत्त्वे चेति। न च कल्पितभेदवतोर्नियम्यत्वाद्यनुपपत्तिरदर्शनादिति शङ्क्यं, बिम्बप्रतिबिम्बयोर्दर्शनात्। न चैवमपि कल्पितभेदवन्नियम्यत्वमीश्वरस्य दुर्वारमिति वाच्यं नेश्वरो नियम्य ईश्वरत्वाद्व्यतिरेकेण जीववदिति नियम्यत्वसामान्याभावानुमानेन पूर्वानुमानस्य सत्प्रतिपक्षत्वात्। नियम्यत्वे चेश्वरत्वानुपपत्तिरत्रानुकूलस्तर्कस्ततस्तर्करहितात्पूर्वस्माद्बलीयस्त्वमिति। ८. साक्षाद्द्रष्टा हि साक्षीत्युच्यते। यथाह भगवान् पाणिनिः— "साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायामि"तीत्याशयवान् रेकते साक्षित्वे तर्हीश्वरस्येक्षणक्रिया स्यादिति। तथा च विकारित्वसंसारित्वानित्यत्वादिदोषग्रासेनेश्वरत्वमेव व्याहन्येतेति शङ्कितुर्मनः।

तस्मिꣳस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳसर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति।।१८।।५।।

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ।।१९।।६।।

(फिर यक्ष ने पूछा—) उस (जातवेदा रूप) तुझमें क्या सामर्थ्य है? (अग्नि ने कहा—) पृथिवी में यह (स्थावरादि) जो कुछ है, उन सभी को मैं जला सकता हूँ ।।५।।

(तब यक्ष ने) उस अग्नि के लिये तिनका रख दिया (और कहा—) इसे जलाओ। अग्नि उस तिनके के पास गया और अपने सारे वेग से भी उस तिनके को जला न सका, वह उस यक्ष के पास से लौट आया और कहा—मैं इस बात को न जान सका कि यह यक्ष कौन है ।।६।।

तं च गतवन्तं पिपृच्छिषुं तत्समीपेऽप्रगल्भत्वात्तूष्णींभूतं तद्यक्षमभ्यद्रव(वद)दग्निं प्रत्यभाषत कोऽसीति। एवं ब्रह्मणा पृष्टोऽग्निरब्रवीदग्निर्वा अग्निनामाऽहं प्रसिद्धो जातवेदा इति च नामद्वयेन प्रसिद्धतयाऽऽत्मानं श्लाघयन्। इत्येवमुक्तवन्तं ब्रह्मावोचत्तस्मिन्नेवं प्रसिद्धगुणनामवति त्वयि किं वीर्यं सामर्थ्यमिति। सोऽब्रवीदिदं जगत्सर्वं दहेयं भस्मीकुर्याम्, यदिदं स्थावरादि पृथिव्यामिति। पृथिव्यामित्युपलक्षणार्थं यतोऽन्तरिक्षस्थमपि दह्यत एवाग्निना। तस्मा एवमभिमानवते ब्रह्म तृणं निदधौ पुरोऽग्नेः स्थापितवद्ब्रह्मैतत्तृणमात्रं ममाग्रतो दह न चेदस्य दग्धुं समर्थो मुञ्च दग्धृत्वा-

---

तृतीयखण्डशेषभाष्यं स्पष्टमतो न विवृतमिति ।।१६।।३।।१७।।४।।१८।।५।।१९।।६।।

वाले उस अग्नि से उसने कहा, तू कौन है? इस प्रकार यक्षस्वरूप ब्रह्म द्वारा पूछे जाने पर अग्नि ने "मैं अग्नि हूँ, मैं अग्नि नाम से प्रसिद्ध जातवेदा हूँ।" ऐसे दो नामों से प्रसिद्ध होने के कारण अपनी प्रशंसा करते हुए कहा।।४।।

उक्त प्रकार से बोलने वाले उस अग्नि से ब्रह्म ने कहा — ऐसे प्रसिद्ध गुण और नाम वाले तुझ में सामर्थ्य क्या है? अग्नि ने कहा—पृथिवी पर जो कुछ चराचर जगत् है, सभी को मैं भस्म कर सकता हूँ। "पृथिवी में" यह पद केवल उपलक्षण के लिये हैं क्योंकि आकाश में रहने वाली वस्तु भी अग्नि से जलती ही है ।।५।।

ऐसे अभिमानी उस अग्नि की परीक्षा के लिये यक्ष ने उसके आगे एक तृण रख दिया और कहा कि इस तिनके को तू मेरे सामने जला। यदि तू इसे जलाने में समर्थ नहीं है तो सबको जलाने के

विज्ञानस्वभावः संसारधर्मैः [१]असंस्पृष्टः [२]श्रुतेश्च। "न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" "जरामृत्युमत्येति" विजरो विमृत्युः"। "सत्यकामः सत्यसंकल्पः" "एष सर्वेश्वरः" "पुण्यं कर्म कारयति"। अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति"। "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने" इत्याद्या असंसारिण [३]एकस्याऽऽत्मनो नित्यमुक्तस्य सिद्धौ श्रुतयः। स्मृतयश्च सहस्रशो विद्यन्ते। न चार्थवादाः शक्यन्ते कल्पयितुम्। अनन्ययोगित्वे सति विज्ञानोत्पादकत्वात्। न चोत्पन्नं विज्ञानं बाध्यते। अप्रतिषेधाच्च।नचेश्वरो नास्तीति

नित्यविज्ञानस्वभावस्यानिर्वाच्यविषयावच्छेदेन साक्षित्वं [४]कल्पितमित्यर्थः। सर्वस्य जीवस्याऽऽत्मभूतश्चेदीश्वरस्तर्हि संसारधर्मैर्लिप्येत संसार्यभेदादित्याशङ्कयाऽऽह—संसारेति। **न केवलमुपपत्तेरीश्वरसिद्धिः श्रुतेरपीत्युक्तं ताः श्रुतीरुदाहरति**—न लिप्यत इत्यादिना। **स्मृतयश्च—"यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते"। "समं सर्वेषु भूतेषु" "ईश्वरः सर्वभूतानाम्" इत्याद्याः। यदुक्तमर्थवादत्वादप्रामाण्यं तत्राऽऽह**—न चेति। **ईश्वरविषयाणि वाक्यानि न कर्मविधिसंनिधिसमाम्नातानि। अतोऽनन्यशेषत्वे सति बोधकत्वात्स्वार्थे प्रमाणानि कर्मविधिवाक्यवदित्यर्थः। [५]किंचार्थवादत्वेऽपि [६]नाप्रामाण्यं पदसमन्वयबलेन जायमानस्य ज्ञानस्य बाधादर्शना[७]त्स्वतःप्रामाण्यादस्य बाधयिता नोपपद्यत इत्याह**— न चोत्पन्नमिति। **इतश्च नाप्रामाण्यमित्याह—अप्रतिषधच्चेति। यथा द्वे वाव**

इनमें जो तात्कालिक फल देने वाली हैं, वे फल उत्पत्तिकाल में ही नष्ट हो जाती हैं तथा कालान्तर में फल देने वाली दृष्ट फल क्रिया उत्पन्न होकर फल देने से पूर्व नष्ट हुआ करती हैं। इनमें भी कृषि का फल अपने अधीन है और सेवा का फल अपने सेव्य के अधीन है। ऐसे दो प्रकार के न्याय, को छोड़कर कर्म या उससे प्राप्त होने वाला फल स्वतंत्र नहीं देखा गया है और कर्म फल की प्राप्ति में इस दृष्ट न्याय का त्याग उचित नहीं है। अतः यागादि कर्मों के समाप्त हो जाने पर उन यागादि के अनुरूप फल देने वाला एवं कर्ता, कर्म तथा विभाग को जानने वाला नित्य ईश्वर सेव्य स्वामी आदि की भांति माना जाना उचित ही है। वह ईश्वर सबके भीतर है, सम्पूर्ण कर्म, फल एवं प्रतीतियों का साक्षी है, नित्य विज्ञान स्वरूप और संसार धर्मों से सर्वथा असम्बद्ध है। यही बात "सम्पूर्ण लोकों से विलक्षण परमात्मा लोक दुःख से लिप्त नहीं होता", "वह जरा और मृत्यु को पार किये हुये है, "वह जरा और मृत्यु से रहित है", "वह सत्यकाम सत्यंकल्प है", सर्वेश्वर है", "वही शुभ कर्म कराता है।" (दूसरा ईश्वररूप पक्षी कर्मफल को न भोगता हुआ उसे प्रकाश देता रहता है।) "इसी अक्षर ब्रह्म की आज्ञा में" इत्यादि श्रुतियाँ संसार धर्मों से रहित नित्य आत्मा की सिद्धि कर रही हैं। ऐसे ही सहस्त्रों स्मृतियाँ भी हैं, इनमें अर्थवाद की कल्पना करना उचित नहीं है, क्योंकि ये किसी अन्य विधि के अंग न होकर

---

१. असंस्पृष्ट इति—न हि सर्पाभेदेऽपि तदात्मभूता रज्जुः सर्पधर्मैः संस्पृश्यत इति व्यक्तमिति भावः। २ श्रुतेश्चेति—ईश्वरः फलदातोपपद्यत इति पूर्वत्रान्वयः। ३. एकस्यात्मन इति—नन्वेतदसङ्गतं यावतोदाहृताः सर्वा अपि श्रुतयो जीवेष्वनुपपद्यमानानेव धर्मान्दर्शयन्त्यो जीवात्मपरमात्मभेदमेव व्यञ्जन्तीति चेन्नैवं ब्रह्मैवेदं सर्वं तत्त्वमसीत्यादिश्रुतिस्वारस्यानुरोधाद्बिम्बप्रतिबिम्बयोरिव कल्पितभेदमात्रेणापि विरुद्धधर्मावभासोक्तेः सम्पन्नत्वादिति। ४. कल्पितमिति— न हि स्वप्नद्रष्टुस्तदीक्षणक्रियया तात्त्विकः कश्चन विकार इति हृदयम्। ५. अभ्युपगम्याप्याह—किंचेति। ६. नाप्रामाण्यमिति—"वज्रहस्तःपुरंदर" इत्यादिवद्भूतार्थवादत्वस्यैव संभवादिति भावः। ७. कुतो बाधादर्शनमत आह—स्वतःप्रामाण्यादित्यादि।

अथ वायुमब्रुवन्वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति ।।२०।।७।।

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीति वायुर्वा अहमस्मीत्य-ब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ।।२१।।८।।

तस्मिꣳस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति।।२२।।९।।

तत्पश्चात् (उन देवताओं ने) वायु से कहा— हे वायो! इस बात को जानो तो सही कि यह यक्ष कौन है? (वायु ने कहा—) अच्छी बात ।।७।।

वायु उस यक्ष के पास गया। यक्ष ने वायु से पूछा —तू कौन है? वायु ने कहा— मैं वायु हूँ। निःसन्देह मैं (अन्तरिक्ष में विचरने वाला) मातरिश्वा ही हूँ।।८।।

(तब यक्ष ने पूछा—) उस (मातरिश्वा रूप) तुझमें क्या सामर्थ्य है? (वायु ने कहा—) पृथिवी में जो कुछ है उन सभी को मैं ग्रहण कर सकता हूँ।।९।।

भिमानं सर्वत्रेत्युक्तस्तत्तृणमुपप्रेयाय तृणसमीपं गतवान्सर्वजवेन सर्वोत्साहकृतेन वेगेन गत्वा न शशाक नाशकद्दग्धुं स जातवेदास्तृणं दग्धुमशक्तो व्रीडितो हतप्रतिज्ञस्तत एव यक्षादेव तूष्णीं देवान्प्रति निववृते निवृत्तः प्रतिगतवान्। नैतद्यक्षमशकं शक्तवानहं विज्ञातुं विशेषतो यदेतद्यक्षमिति ।।१६।।३।।१७।।४।।१८।।५।।१९।।६।।

अथ वायुमित्यथानन्तरं वायुमब्रुवन्हे वायवेतद्विजानीहीत्यादि समानार्थं पूर्वेण। वानाद्-गमनाद्गन्धनाद्वायुः। मातर्यन्तरिक्षे मातर्यन्तरिक्षे श्वयती मातरिश्वा। इदं सर्वमप्याददीय

।।२०।।७।।

।।२१।।८।

।।२२।।९।

मिथ्याभिमान को छोड़ दो। तत्पश्चात् वह अग्नि अपने सारे बल और उत्साहजनित सम्पूर्ण वेग से उस तिनके के पास किन्तु वहाँ जाकर भी उसे जलाने में समर्थ न हो सका। इस प्रकार उस तिनके को जलाने में असमर्थ हतप्रतिज्ञ वह अग्नि लज्जित होकर उस यक्ष के पास से चुपचाप देवताओं के पास लौट आया (और देवताओं के पूछने पर उसने कहा कि) यह यक्ष कौन है, इस प्रकार इस यक्ष को विशेषरूप से मैं न जान सका।।६।।

उसके पश्चात् देवताओं ने वायु से कहा कि हे वायु! इसे जानो, इत्यादि सभी अर्थ पूर्व के समान हैं। वान अर्थात् गमन या गन्ध ग्रहण करने के कारण इसे वायु कहा गया है। अन्तरिक्ष में

निषेधोऽस्ति। प्राप्त्यभावादिति चेन्नोक्तत्वात्। [1]न हिंस्यादितिवत्प्राप्त्यभावात्प्रतिषेधो नाऽऽरभ्यत इति चेन्न। ईश्वरसद्भावे न्यायस्योक्तत्वात्। अथवाऽप्रतिषेधादिति कर्मणः फलदान ईश्वरकालादीनां न प्रतिषेधोऽस्ति। न च निमित्तान्तरनिरपेक्षं केवलेन कर्त्रैव प्रयुक्तं फलदं दृष्टम्। नच विनष्टोऽपि यागः कालान्तरे फलदो भवति। [2]सेव्य-

---

ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं चेति प्रस्तुत्य नेति नेतीति परस्तात्प्रतिषेधति नैवमीश्वरं प्रस्तुत्य प्रतिषेध उपलभ्यत इत्यर्थः। प्रतिषेधाभावः सत्त्वान्न भवति किंत्वप्राप्तवात्। यथा रागतः प्राप्ता भूतहिंसा निषिध्यते नैवमीश्वरस्य प्राप्तिरस्तीत्य[3]न्यथासिद्धिमाशङ्क्य परिहरति— प्राप्तीत्यादिना। **अप्रतिषेधा-दितिसंग्रहवाक्यं प्रकारान्तरेण व्याचष्टे—** अथवेति। **स्वर्गकामो यजेतेत्यादिशास्त्रं यागस्य फलदायिनीं शक्तिं द्योतयति न सहकार्यन्तरं निषेधयति। वाक्यभेदप्रसङ्गादित्यर्थः। [4]इतश्च शास्त्रमयोगव्यवच्छेदकं वाच्यं नान्ययोगव्यवच्छेदकम्। स्रक्चन्दनवनितादिनिमित्तनिरपेक्षस्य कर्मणः फलहेतुत्वा[5]नुप-लम्भात्। अतो यथा मानान्तरसिद्धं स्रक्चन्दनवनितादेर्निमित्तत्वमिष्टं तथेश्वरस्याप्येष्टव्यमित्याह—** न च निमित्तान्तरनिरपेक्षमिति। **[6]इतश्चेश्वरः फलदाता वक्तव्यः। प्रध्वस्तस्य यागस्य कारणत्वा-संभवात्। नियतपूर्वक्षणसत्त्वं हि कारणत्वम्। न चापूर्वद्वारेणोपपद्यते। असति द्वारवति द्वारत्वा-नुपपत्तेः। नचौषधपानादिदृष्टान्तः। औषधाद्यवयवानां [7]संस्कृतानां फलकालपर्यन्तमनुवर्तमानानामेव कालान्तरीयफलहेतुत्वादित्यभिप्रेत्याऽऽह—** न च विनष्ट इति। **कथं तर्हीश्वरो वाऽपि [8]नष्टस्य**

स्वतन्त्र ज्ञान उत्पन्न करने वाले हैं और इन श्रुतियों से उत्पन्न हुआ विज्ञान (कभी किसी भी प्रमाण से) बाधित नहीं होता।

(ईश्वर नहीं है, इस प्रकार ईश्वर का) निषेधक वाक्य न होने के कारण पूर्वोक्त श्रुतियाँ अर्थवाद नहीं हैं अर्थात् ईश्वर नहीं है, ऐसा निषेध कहीं भी नहीं मिलता है। यदि कहो कि ईश्वर की सिद्धि न होने के कारण उसके निषेध को अनावश्यक समझकर उसका निषेध श्रुति में नहीं किया गया है तो ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि ईश्वर की सिद्धि के विषय में पूर्वोक्त श्रुतियाँ कह चुके हैं। तात्पर्य यह कि ईश्वर का प्रसंग शास्त्र में न आने के कारण **"न हिंस्यात् सर्वा भूतानि"** इस वाक्य की भाँति ईश्वर का निषेध नहीं किया गया है तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि ईश्वर की सत्ता की सिद्धि में पूर्वोक्त न्याय कहा जा चुका है अथवा **"अप्रतिषेधात्"** इस हेतु का तात्पर्य ऐसा समझना चाहिये कि कर्म के फल देने में ईश्वर और काल आदि का निषेध नहीं किया गया है। किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा न करके केवल कर्ता से प्रेरित हुआ कर्म अपना फल देते नहीं देखा गया है, क्योंकि

---

१. सूत्रं व्याकरोति—न हिंस्यादित्यादिना। २. ननु सेव्यबुद्धिवत्सेवकेनेति विषमोपन्यासः सेव्यस्य हि सेवकसंनिधानाद्भवेदियं बुद्धिरनेनाहं सेवित इति। ईश्वरस्तु कथं विद्यादनेनाहमिष्ट इति। अत ईश्वरं विशिनष्टि—सर्वज्ञेति। स हि नित्यं सर्वसंनिहितः सर्वज्ञश्च "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे" "तान्यहं वेद सर्वाणी" ति स्मृतेः। ३. अन्यथासिद्धिम्—प्रतिषेधाभावस्येत्यादिः। ४. ननु सर्वं वाक्यं सावधारणमिति नियमाद्याग एव स्वर्गसाधनमिति स्यादत आह—इतश्चेत्यादि। ५. अनुपलम्भादिति—न हि मानान्तरविरुद्धं शक्यं प्रतिपादयितुमन्यथा विलम्बवाचकाभावाद्यागानन्तरमेव स्वर्गो भवतीत्यति न कुतः स्यादिति भावः। ६. नन्वेवमीश्वरोऽस्तु निमित्तमात्रं स्रगादिवन्न दातृत्ववान् स तु याग एव स्यादत आह—इतश्चेश्वरः फलदातेति। ७. संस्कृतानामिति—संस्कारश्च तेषां कालादिकृत आरोग्ययोग्यतारूपः परिपाकविशेष इति ध्येयम्। ८. नष्टस्य—कर्मणः।

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकाऽऽदातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ।।२३।।१०।।

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे ।।२४।।११।।

(तब यक्ष ने) उस वायु के लिये एक तिनका रख दिया (और कहा—) इसे पकड़ो। वायु उस तिनके के पास गया, पर अपने सारे वेग से भी वह उस तिनके को ग्रहण नहीं कर सका। तब वायु उसके पास से ही लौट आया और कहा— यह यक्ष कौन है इसे मैं न जान सका।।१०।।

तत्पश्चात् (देवताओं ने) इन्द्र से कहा— हे मघवन्! यह यक्ष कौन है, इसे जानो तो सही। तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कह कर इन्द्र यक्ष के पास गया; किन्तु वह यक्ष इन्द्र के सामने से तिरोहित हो गया (अर्थात् इन्द्र से बात भी नहीं की) ।।११।।

गृह्णीयाम्। यदिदं पृथिव्यामित्यादि समानमेव ।।२०।।७।।२१।।८।।२२।।९।।२३।।१०।।

अथेन्द्रमिति अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहीत्यादि पूर्ववत्। इन्द्रः परमेश्वरो मघवान्बलवत्त्वात्तथेति तदभ्यद्रव[1]त्तस्मादिन्द्रादात्मसमीपं गतात्तद्ब्रह्म तिरोदधे तिरोभूतमिन्द्रस्येन्द्रत्वाभिमानोऽतितरां निराकर्तव्य इत्यतः संवादमात्रमपि नादाद्ब्रह्मेन्द्राय तद्यक्षं यस्मिन्नाकाश आकाशप्रदेश आत्मानं दर्शयित्वा तिरोभूतमिन्द्रश्च ब्रह्मणस्तिरो-

---

।।२३।।१०।।

।।२४।।११।।

विचरण करने से वह मातरिश्वा है। पृथिवी में यह जो कुछ भी है, मैं इसे ग्रहण कर सकता हूँ इत्यादि शेष अर्थ पूर्ववत् ही है।।७-१०।।

इन्द्र की परीक्षा

उसके बाद फिर देवताओं ने इन्द्र से कहा कि है मघवन्! इसे जानो, इत्यादि पूर्व की भाँति समझना चाहिये। इन्द्र यानी परमेश्वर बलवान् होने के कारण मघवा भी कहा गया है। बहुत अच्छा, ऐसा कहकर इन्द्र उस यक्ष की ओर गया। अपने समीप आये उस इन्द्र के सामने से वह यक्षरूप ब्रह्म तिरोहित हो गया। सबसे बढ़े-चढ़े इन्द्रत्वाभिमानी इन्द्र के अभिमान को नष्ट करना चाहिये। इसीलिये ब्रह्म ने इन्द्र को सम्वादमात्र का भी अवसर नहीं दिया।।११।।

आकाश के जिस प्रदेश में अपने को दिखलाकर वह यक्ष तिरोहित हुआ था और उसके

---

१. तस्मादिन्द्रादिति—अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छतीति पञ्चमीयम्।

बुद्धिवत्सेवकेन सर्वज्ञेश्वरबुद्धौ तु संस्कृतायां यागादिकर्मणा विनष्टेऽपि कर्मणि सेव्यादिवेश्वरात्फलं कर्तुर्भवतीति युक्तम्। न तु पुनः पदार्था वाक्यशतेनापि देशान्तरे कालान्तरे वा स्वं स्वं स्वभावं जहति नहि देशकालान्तरेषु चाग्निरनुष्णो भवति। एवं कर्मणोऽपि कालान्तरे फलं द्विप्रकारमेवोपलभ्यते। बीजक्षेत्रसंस्कारपरिरक्षाविज्ञानवत्कर्त्रपेक्षफलं कृष्यादि विज्ञानवत्सेव्यबुद्धिसंस्कारापेक्षफलं च सेवादि। यागादेः कर्मणस्तथाऽविज्ञानवत्कर्त्रपेक्षफलत्वानुपपत्तौ कालान्तरफलत्वात्कर्मदेशकालनिमित्तविपाकविभागज्ञबुद्धिसंस्कारापेक्षं फलं भवितुमर्हति। सेवादिकर्मानुरूपफलज्ञसेव्यबुद्धि-

---

फलदातोपपद्यते तत्राऽऽह— सेव्यबुद्धिवदिति। [1]एतत्कर्मानेनानुष्ठितमिति [2]कर्मणेश्वरस्य बुद्धावा[3]रोह एव कर्मणां संस्कारस्तद्वशाद्विनष्टेऽपि कर्मणीश्वरात्फलं युक्तम्। यथाऽनेनाहं सेवित इति सेव्यबुद्धौ संस्कृतायां कालान्तरे विनष्टायामपि सेवायां सेव्याद्राजादेः फलं भवति तद्वदित्यर्थः। यद्यपि लौकिकानां कर्मणां फलसाधनत्वं चेतनाधीनं दृष्टं तथाऽपि वैदिकस्य यागादेः फलं दातारं विनाऽपि वाक्यप्रामाण्याद्भविष्यतीति नाऽऽशङ्कनीयमित्याह — नतु पुनरिति। अन्वययोग्यानां पदार्थानां संसर्गबोधकमेव वाक्यं नतु तद्बलाद्दृष्टः पदार्थस्वभावस्त्यक्तुं [4]शक्यत इत्यर्थः। बीजक्षेत्रयोः संस्कारस्तत्परिरक्षा च तद्विज्ञानवान्यः कर्ता तदपेक्षफलं कृष्यादि दृष्टम्। सेवादिकं च विज्ञानवान्यः सेव्यस्तदबुद्धिसंस्कारापेक्षफलं दृष्टम्। तथा यागादेः कर्मणः कालान्तरफलत्वादविज्ञानवत्कर्त्रपेक्षफलत्वानुपपत्तौ कर्मादिविभागज्ञकर्त्रपेक्षफलत्वं भवितुमर्हतीत्यर्थः। लौकिककर्मस्वनेकविधेष्वपि मध्ये सेवायागादेरनुरूपो दृष्टान्त इत्यभिप्रेत्य पुनराह—सेवादीति। सेवादिकर्मानुरूप फलं जानाति यः सेव्यस्तद्बुद्धौ

सर्वथा नष्ट हुआ याग कालान्तर में फल देने वाला नहीं होता है।

जैसे सेवक की सेवा से सेव्य-स्वामी की बुद्धि पर संस्कार पड़ जाता है, वैसे ही यागादि कर्म से सर्वज्ञ ईश्वर की बुद्धि संस्कार युक्त हो जाती है। फिर तो कर्म के नष्ट हो जाने पर भी कर्त्ता को ईश्वर से वैसे ही फल मिल जाता है, जेसे स्वामी से सेवक को फल प्राप्त होता है; ऐसा मानना सर्वथा युक्ति-युक्त है। सैंकड़ों वाक्य प्रमाण देने पर भी कोई भी पदार्थ देशान्तर अथवा कालान्तर में भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। अग्नि किसी भी देश या काल में शीतल नहीं हो जाती है। इस प्रकार कर्मों का भी कालान्तर में मिलने वाला फल दो प्रकार का ही देखा जाता है।

कृषि आदि कर्म ऐसे कर्त्ता की अपेक्षा रखकर फल देने वाले हैं जिस कर्त्ता को बीज, क्षेत्र का संस्कार तथा कृषि की रक्षा आदि का ज्ञान हो एवं सेवा आदि कर्म अपने विज्ञान से युक्त सेव्य-स्वामी की बुद्धि के सस्कार की अपेक्षा रखकर फलप्रद होते हैं। यागादि कर्म कालान्तर भावी फल को देने वाले हैं। ऐसे कर्मों के फल की प्राप्ति को अज्ञानी कर्त्ता की अपेक्षा से मानना उचित न होगा। अतः यागादि कर्मों का फल कर्म, देश, काल निमित्त और कर्म विपाक के विभाग को जानने वाले

---

१. नन्वपूर्वं खण्डयितुमनसा सर्वज्ञेश्वरबुद्धौ संस्कृतायामिति च वदता नापूर्वं खण्डितं संस्कारोपगमादपूर्वस्य च तदात्मकत्वात्। जीवाश्रितत्वमात्रं तु तस्य प्रत्युक्तं महच्चेदमनिष्टमापतितं यदीश्वर एव धर्माधर्माश्रयोऽभवदित्यहो कौशलमित्येतन्निरसितुमीश्वरधीसंस्कृतिं व्यनक्ति—एतदित्यादिना। २. कर्मणेति-कर्मप्रयुक्तायामित्यर्थः। ३. आरोहो विषयीभावः कर्मणाम्। ४. शक्यत इति—अन्यथाऽग्निना सिञ्चेदिति वाक्यबलादेवाग्नेः सेककरणत्वमभ्युपगम्येतेति भावः।

स तस्मिन्नेवाऽऽकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमाना-मुमाꣳ हैमवतीं ताꣳ होवाच किमेतद्यक्ष मिति।।२५।।१२।।

इति तृतीयः खण्डः ।।३।।

(जिस आकाश में यक्ष अन्तर्धान हुआ था) उसी आकाश में एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री के पास वह इन्द्र आया और स्वर्णाभरण-भूषिता अथवा हिमालयतनया रूप उस उमा से कहा—यह यक्ष कौन है?।।१२।।

।। इति तृतीयः खण्डः।।

धानकाले यस्मिन्नाकाश आसीत्स इन्द्रस्तस्मिन्नेवाऽऽकाशे तस्थौ। किं तद्यक्षमिति ध्यायन्न निववृतेऽग्न्या-दिवत्तस्येन्द्रस्य यक्षे भक्तिं बुद्ध्वा विद्यो[१]मारूपिणी प्रादुरभूत्स्त्रीरूपा। स इन्द्रस्तामुमां बहुशोभमानं सर्वेषां हि शोभमानानां शोभनतमां विद्यां [२]तदा बहुशोभमानेति विशेषणमुपपन्नं भवति। हैमवतीं हेमकृताभरणवतीमिव[३] बहुशोभमानामित्यर्थः। अथवोमैव हिमवतो दुहिता हैमवती नित्यमेव सर्वज्ञेनेश्वरेण सह वर्तत इति ज्ञातुं समर्थेति कृत्वा तामुपजगाम। इन्द्रस्तां होमां किलोवाच पप्रच्छ ब्रूहि

।।२५।।१२।।

इति तृतीयः खण्डः ।।३।।

तिरोहित होते समय जिस आकाश में इन्द्र था, वह इन्द्र ऐसा सोचता हुआ "यह यक्ष कौन है" उसी आकाश में खड़ा रहा। अग्नि आदि के समान पीछे नहीं हटा। उस इन्द्र की यक्ष में भक्ति जानकर स्त्री वेष वाली उमारूप विद्या देवी प्रकट हो गयी। वह इन्द्र उस अत्यन्त सौन्दर्य सम्पन्ना हैमवती उमा के पास गया। शोभायुक्त सभी पदार्थों में विद्या ही सर्वाधिक सुन्दर है। इसीलिये उसमें **"बहुशोभमाना"** ऐसा विशेषण देना उचित ही है। स्वर्ण निर्मित आभूषण वाली के समान अत्यन्त सुन्दर होने के कारण हेमवती शब्द से कही गयी है अथवा हिमालय की कन्या होने से उमा ही हैमवती है। वह सर्वदा सर्वज्ञ ईश्वर के साथ-साथ रहती है। विचार कर इन्द्र उसके पास गया और उससे इन्द्र ने पूछा कि आप

---

१. विद्या स्त्रीरूपा सती प्रादुरभूदित्यन्वयः। स्त्रीरूपेति सामान्योक्तेर्विशेषे पर्यवसानायाह—उमारूपिणीति। २. तदेति— प्रकृतायाः स्त्रिया विद्यात्वे सत्येवेत्यर्थः। ३. छान्दसमिवशब्दलोपं मत्वाह—इवेति।

संस्कारापेक्ष[1]फलस्येव। तस्मात्सिद्धः सर्वज्ञ ईश्वरः सर्वजन्तुबुद्धिकर्मफलविभागसाक्षी सर्वभूतान्तरात्मा। यत्साक्षादपरोक्षाद्य आत्मा सर्वान्तर इति श्रुतेः। स एव चात्राऽऽत्मा जन्तूनां नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रित्याद्यात्मान्तरप्रतिषेधश्रुतेस्तत्त्वमसीति चाऽऽत्मत्वोपदेशात्। न हि मृत्पिण्डः काञ्चनात्मत्वेनोपदिश्यते। ज्ञानशक्तिकर्मोपास्योपासकशुद्धाशुद्धमुक्तामुक्तभेदादात्मभेद एवेति चेन्न। भेददृष्ट्यपवादात् यदुक्तं संसारिण ईश्वरादनन्या इति। तन्न किं तर्हि भेद एव संसार्यात्मनाम्। कस्माल्लक्षणभेदादश्वमहिषवत् कथं लक्षणभेद इत्युच्यते। ईश्वरस्य तावन्नित्यं सर्वविषयं ज्ञानं सवितृप्रकाशवत्। तद्विपरीतं संसारिणां

यः संस्कारस्तदपेक्षफलस्य सेवादेर्यथा न स्वातन्त्र्यं तद्वदित्यर्थः। एवं तावन्निरीश्वरवादिनं प्रतीश्वरं प्रसाध्य सेश्वरवादिनामभिमतवास्तवभेदनिरासाय प्रक्रमते — स एवेति। **जीव ईश्वराद्भिन्नस्तद्विरुद्धधर्माक्रान्तत्वात्। यो यद्विरुद्धधर्माक्रान्तः स ततो भिन्नः यथाऽश्वान्महिष इत्यनुमानमुद्भाव्य तस्य भेदनिन्दानुपपत्त्यनुगृहीताभेदश्रुतिविरोधा[2]त्कालात्ययापदिष्टत्वमाह**— ज्ञानशक्तीत्यदिना। **संग्रहवाक्यं**

किसी चेतन की बुद्धि के संस्कार की अपेक्षा से ही मानना उचित होगा। जिस प्रकार सेवा आदि कर्मों का फल उसके अनुरूप फल के ज्ञाता सेव्य-स्वामी की बुद्धि पर पड़े हुए संस्कार की अपेक्षा से मिलता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि समस्त प्राणियों की बुद्धि, कर्म और फल के विभाग का प्रत्यक्ष द्रष्टा सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ ईश्वर है। यही बात "जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो सबके भीतर आत्मा है" इस श्रुति से भी प्रमाणित होती है। वह परमात्मा ही इस संसार में सभी प्राणियों का आत्मा है, उस भिन्न कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता नहीं है। यथा "इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है" इत्यादि श्रुति से परमेश्वर से भिन्न विज्ञाता का प्रतिषेध कर दिया है एवं **"तत्त्वमसि"** इस महावाक्य द्वारा ब्रह्म में आत्मत्व के उपदेश से भी सिद्ध हो रहा है। मृत्पिण्ड का कभी भी स्वर्णरूप से उपदेश नहीं किया जाता (क्योंकि वह उसका स्वरूप नहीं है)। यदि कहो कि ज्ञान, शक्ति, कर्म उपास्य, उपासक, शुद्ध, अशुद्ध मुक्त और बद्ध इत्यादि भेदों के कारण आत्मा में भेद मानना ही उचित है, ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि यहाँ पर भेद दृष्टि की निन्दा की गयी है।

शंका :— आपने संसारी जीवों का ईश्वर से जो अभेद बतलाया, वह ठीक नहीं है।

समाधान :— तो फिर क्या ठीक है?

शंका :— संसारी जीव और परमात्मा का परस्पर भेद ही है।

समाधान :— क्यों?

शंका:— घोड़े और भैंस की भाँति जीव-ईश्वर के लक्षणों में भेद होने के कारण (उनमें परस्पर भेद मानना ही उचित है) यदि कहो कि उनके लक्षणों में भेद किस प्रकार है तो हम बतलाते हैं कि सूर्य के प्रकाश के समान ईश्वर को सभी विषयों का सर्वदा ज्ञान नित्य है। इसके विपरीत संसारी

---

१. फलस्येवेति—योगादिफलस्य कर्मदेशकालादिविभागज्ञबुद्धिसंस्कारापेक्षत्वं भवितुमर्हतीति शेषः। २. कालात्ययापदिष्टत्वं — बाधित्वमित्यर्थः।

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ततो हैव विदांचकार ब्रह्मेति।।२६।।१।।

उस (ब्रह्मविद्या रूप उमा) ने इन्द्र से कहा—यह ब्रह्म है, तुम लोग ब्रह्म के ही विजय में इस प्रकार गौरव को प्राप्त किये हो। तब से इन्द्र ने जाना, यह यक्ष पूजनीय ब्रह्म है (स्वतन्त्र रूप से इन्द्र उसे न जान सका)।।१।।

किमेतद्दर्शयित्वा तिरोभूतं यक्षमिति ।।२४।।११।।२५।।१२।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ
केनोपनिषत्पदभाष्ये तृतीयः खण्डः ।।३।।

सा ब्रह्मेति होवाच ह किल ब्रह्मण ईश्वरस्यैव विजय ईश्वरेणैव जिता असुरा यूयं तत्र निमित्तमात्रं तस्यैव विजये यूयं महीयध्वं महिमानं प्राप्नुथ। एतदिति क्रियाविशेषणार्थम्। मिथ्याभिमानस्तु युष्माकमयमस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति। ततस्तस्मादुमावाक्याद्धैव विदांचकार ब्रह्मेतीन्द्रोऽवधारणात्ततो हैवेति न स्वातन्त्र्येण ।।२६।।१।।

।।२६।।१।।

आप बतलायें, इस प्रकार अपने को दिखला कर छिप जाने वाला यक्ष कौन था?।।१२।।

।। इति तृतीय खण्ड।।

उमा द्वारा इन्द्र को उपदेश

उमा ने कहा कि यह ब्रह्म है। निःसन्देह इसी ईश्वर की विजय में (तुम लोग महिमान्वित हुए हो) क्योंकि असुर ईश्वर से ही जीते गये थे, उसमें तुम लोग तो निमित्त मात्र रहे। अतः उसी की विजय में तुम लोग महिमा को प्राप्त हुए हो। मन्त्र में **"एतद्"** यह पद क्रिया विशेषण के लिए आया है। "यह हमारी ही विजय है, यह हमारी ही महिमा है" ऐसा तुम्हारा अभिमान मिथ्या ही है। तत्पश्चात् उमा के उस वाक्य से ही इन्द्र ने जाना कि यह ब्रह्म है। **'ततः'** पद के साथ **'ह'** और **'एव'** ये दोनों अव्यय निश्चय कराने के लिए प्रयोग किये गए हैं, अर्थात् उमा के वाक्य से ही इन्द्र ने ब्रह्म को जाना, स्वतन्त्रता से नहीं जाना।।१।।

खद्योतस्येव। तथैव शक्तिभेदोऽपि। नित्या सर्वविषया चेश्वरशक्तिर्विपरीतेतरस्य। कर्म च चित्स्वरूपात्मसत्तामात्रनिमित्तमीश्वरस्य। औष्ण्यस्वरूपद्रव्यसत्तामात्रनिमित्तदहनकर्मवत्। राजायस्कान्तप्रकाशकर्मवच्च स्वात्माविक्रियारूपम्। विपरीतमितरस्य। उपासीतेतिवचनादुपास्य ईश्वरो गुरुराजवत्। उपासकश्चेतरः शिष्यभृत्यवत्। अपहतपाप्मादिश्रवणान्नित्यशुद्ध ईश्वरः। पुण्यो वै पुण्येनेतिवचनाद्विपरीत इतरः। अत एव नित्यमुक्त एवेश्वरो नित्याशुद्धियोगात्संसारीतरः। [१]अपिच यत्र ज्ञानादिलक्षणभेदोऽस्ति तत्र भेदो दृष्टः। यथाऽश्वमहिषयोस्तथा ज्ञानादिलक्षणभेदादीश्वरादात्मनां भेदोऽस्तीति चेन्न। कस्मात्। अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद ते क्षय्यलोका भवन्ति। मृत्योः स मृत्युमाप्नोतीति भेददृष्टिर्ह्यपोद्यते। एकत्वप्रतिपादिन्यश्च श्रुतयः सहस्रशो विद्यन्ते। यदुक्तं ज्ञानादिलक्षणभेदादित्यत्रोच्यते नानभ्युपगमात्।

विवृणोति— यदुक्तमित्यादिना। **स्वात्मनोऽविक्रियारूपं [२]जगदुपादानादिलक्षणं कर्मेश्वरस्येत्यर्थः। दूषणान्तराभिधित्सयाऽनुवदति—** यदुक्तमिति। **[३]जीवाः किं बुद्ध्यादिविशिष्टा[४]श्चित्प्रतिबिम्बा धर्मित्वेन गृह्यन्ते [५]किंवा देवमनुष्यादिशब्दवाच्याः सचितिका देहाः किंवा तृतीयो [६]विलक्षणनिरुपाधिकभेदभिन्नश्चेतन आद्ये [७]सिद्धसाधनत्वमाह—** नानभ्युपगमादित्यादिना। **चित्तं ज्ञानं चैत्याः सुखादयो बीजम-**

जीवों को जुगनु की भाँति अनित्य ज्ञान है, वैसे ही ईश्वर की शक्ति नित्य और सर्व विषयिणी है किन्तु जीव की शक्ति इससे भिन्न है। ईश्वर का कर्म भी उसके चित् स्वरूप की सत्तामात्र से ही होता है। जैसे (सूर्यकान्त मणि आदि) उष्ण स्वभाव द्रव्यों की सत्तामात्र से दाह कार्य हो जाता है अथवा राजा, चुम्बक एवं प्रकाश से होने वाले कार्य जैसे उनकी सन्निधि मात्र से होते हैं, वैसे ही ईश्वर के कर्म उसके स्वरूप में विकार उत्पन्न नहीं करते हैं। इसके विपरीत जीव के कर्म हैं। **"उपासीत"** इस श्रुति के अनुसार गुरु एवं राजा की भाँति ईश्वर उपास्य है और शिष्य तथा सेवक की भाँति जीव उपासक है। **"अपहतपाप्मा"** इत्यादि श्रुतियों के अनुसार ईश्वर नित्य शुद्ध है किन्तु **"पुण्यो वै पुण्येन"** इत्यादि श्रुति के अनुसार जीव इससे विपरीत है। इसीलिये ईश्वर नित्य मुक्त ही है किन्तु जीव नित्य अशुद्धि से सम्बद्ध रहने के कारण संसारी है। इस प्रकार जहाँ पर ज्ञानादि लक्षणों में भेद रहता है, वहाँ भैंस और घोड़े की भाँति सर्वथा भेद ही देखा गया है। अतः ज्ञानादि लक्षणों में भेद रहने से ईश्वर जीवों में भेद ही सिद्ध होता है ऐसा यदि कहो तो यह ठीक नहीं।

शंका :— कैसे ?

समाधान :— क्योंकि "वह परमेश्वर अन्य है और मैं अन्य हूँ, ऐसा जानने वाला वस्तुतः नहीं

---

१. उक्तमर्थं निगमयति—अपि चेति। तथा चेत्यर्थः। २. जगदुपादानादीति—जगदुत्पादनादीत्यर्थः। तथा पाठ एव वा विपर्यासं गतः। ३. प्रतिबिम्बवादमाश्रित्याह—जीवाः किमिति। ४. चित्प्रतिबिम्बा इति—बिम्बभूताऽपि चिदन्तःप्रविष्टैव ग्राह्याऽतस्तत्प्रविष्ट-चित्स्वरूपस्येति नोत्तरासंगतिः। ५. अवच्छेदवादेनाह—किंवेति। ६. विलक्षणेत्यादि—विलक्षणश्चासौ निरुपाधिकभेदेन भिन्नश्चेति नीललोहितवद्विशेषणयोरेव समासः विलक्षण इति व्यस्तपाठो वा। विलक्षणश्च परमात्मतो विरुद्धलक्षणकः। ७. सिद्धसाधनत्वमाहेति —अत्र स्वाभिमतमीश्वरादभिन्नं जीवस्वरूपं दर्शयन्निति शेषः।

**तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान्यदग्नि-
र्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत्प्रथमो
विदांचकार ब्रह्मेति ।।२७।।२।।**

**तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान्स ह्येनन्नेदिष्ठं
पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति।।२८।।३।।**

क्योंकि अग्नि, वायु और इन्द्र इन देवताओं ने ही इस अत्यन्त समीपस्थ ब्रह्म का (संवाद आदि के द्वारा) स्पर्श किया था और उन्होंने ही उसे पहले-पहल जाना कि यह ब्रह्म है, अतः वे अन्य देवताओं की अपेक्षा (ज्ञान-ऐश्वर्यादि में) बढ़-चढ़ कर हुए।।२।।

(उनमें भी) अन्य देवताओं से बढ़ कर इन्द्र इसीलिये माना गया, क्योंकि उसी ने इस समीपस्थ ब्रह्म का स्पर्श किया था और उसने ही सर्वप्रथम यह ब्रह्म है, इस प्रकार (उमा के वाक्य से) इसे जाना था।।३।।

यस्मादग्निवाय्विन्द्रा एते देवा ब्रह्मणः संवाददर्शनादिना सामीप्यमुपगतास्तस्मादैश्वर्यगुणैरतितरामिव शक्तिगुणादिमहाभाग्यैरन्यान्देवानतितरामतिशयेन [1]शेरत इवैते देवाः। इवशब्दोऽनर्थको वधारणार्थो वा। यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते हि देवा यस्मादेनद्ब्रह्म नेदिष्ठमन्तिकतमं [2]प्रियतमं पस्पृशुः स्पृष्टवन्तो यथोक्तैर्ब्रह्मणः संवादादिप्रकारैस्ते हि यस्माच्च हेतोरेनद्ब्रह्म प्रथमः प्रथमाः प्रधानाः सन्त इत्येतद्विदांचकार विदांचक्रुरित्येतद्ब्रह्मेति ।।२७।।२।।

यस्मादग्निवायू अपीन्द्रवाक्यादेव विदाचक्रतुरिन्द्रेण ह्युमावाक्यात्प्रथमं श्रुतं

।।२७।।२।।

क्योंकि अग्नि, वायु और इन्द्र ये तीनों देवता ही ब्रह्म के साथ सम्वाद और दर्शनादि के द्वारा उसके समीप गये थे। अतः निःसन्देह ये देवगण अपनी शक्ति एवं गुण आदि महान् सौभाग्यों के कारण अन्य देवताओं की अपेक्षा श्रेष्ठ हुए। **'इव'** शब्द निरर्थक है अथवा निश्चयार्थक है क्योंकि अग्नि, वायु और इन्द्र इन देवताओं ने अत्यन्त समीप एवं प्रियतम भाव से पूर्वोक्त सम्वाद आदि द्वारा इस ब्रह्म का स्पर्श किया था और इन्होंने ही पहले-पहल "यह ब्रह्म है" इस प्रकार प्रधानरूप से ब्रह्म को जाना था।।२।।

क्योंकि अग्नि और वायु ने भी इन्द्र के वाक्य से ही उसे जाना था और उमा के वाक्य से तो

---

१. शेरते—वर्तन्ते अन्येभ्य उत्कृष्यन्त इति यावत्। २. प्रियतमत्वमेव वास्तवान्तिकतमत्वमप्रियस्य समीपस्थास्यापि दूरस्थकल्पत्वादित्याशयेनाह—प्रियतममिति।

[1]बुद्ध्यादिभ्यो व्यतिरिक्ता विलक्षणाश्चे[2]श्वराद्भिन्नलक्षणा आत्मानो न सन्ति। [3]एक एवेश्वरश्चाऽऽत्मा सर्वभूतानां नित्यमुक्तोऽभ्युपगम्यते। [4]बाह्य[5]श्चक्षुर्बुद्ध्यादिसमाहार-संतानाहंकारममत्वादिविपरीतप्रत्ययप्रबन्धाविच्छेदलक्षणो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तविज्ञानात्मे-श्वरगर्भो [6]नित्यविज्ञानावभासश्चित्तचैत्यबीजबीजिस्वभावः कल्पितोऽनित्यविज्ञान ईश्वरलक्षणविपरीतोऽभ्युपगम्यते। यस्याविच्छेदे संसारव्यवहारः। विच्छेदे च मोक्षव्यवहारः। अन्यश्च मृत्प्रलेपवत्प्रत्यक्षप्रध्वंसो देवपितृमनुष्यादिलक्षणो भूतविशेष-समाहारो [7]न पुनश्चतुर्थोऽन्यो भिन्नलक्षण ईश्वरादभ्युपगम्यते। बुद्ध्यादिकल्पितात्म-

---

विद्यादि बीजिशरीरं तत्स्वभावो विशिष्टस्य विशेषणतादात्म्यादित्यर्थः। यस्य विशिष्टरूपस्याविच्छेदे तत्प्रविष्टचित्स्वरूपस्य संसारव्यवहारो यस्य च विच्छेदे प्रतिबिम्बरूपस्य बिम्बसंपत्त्या मोक्षव्यवहारो भवति स कल्पितरूपः पृथगभ्युपगम्यतेऽतः सिद्धसाधनमित्यर्थः। द्वितीयविकल्पेऽपि सिद्धसाधन-त्वमाह— अन्यश्चेति। तृतीयविकल्पे बुद्ध्यादिकल्पितेभ्यो विशिष्टात्मभ्यो व्यतिरेकेण निरुपाधिकस्वरू-पाभिप्रायेण पक्षीकरणे हेतुराश्रयासिद्धस्तादृशस्याऽऽश्रयस्य मानविकलत्वादित्यर्थः। [8]ईश्वरादन्य आत्मा

जानता है" "वे नाशवान् लोकों को प्राप्त होते हैं" "वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है" इत्यादि श्रुति वाक्यों से भेद दृष्टि का निषेध किया जाता है। इसके विपरीत सहस्रों श्रुतियाँ जीव ब्रह्म के एकत्व का प्रतिपादन करती हैं।

आपने जो कहा कि ज्ञानादि लक्षणों में भेद होने के कारण जीव-ईश्वर का परस्पर भेद ही है। यहाँ पर मुझे यह कहना है कि उनके ज्ञान आदि का भेद स्वीकार न होने के कारण उनमें परस्पर भेद नहीं है। बुद्धि आदि उपाधियों से पृथक् और विलक्षण जीव नहीं है, जो ईश्वर से भिन्न स्वभाव वाले हों। सम्पूर्ण भूतों का आत्मा नित्य मुक्त एक ही ईश्वर माना जाता है क्योंकि नेत्र और बुद्धि आदि संघात की परम्परा से प्राप्त अहंता-ममतादि रूप विपरीत ज्ञान का विच्छेद न होना ही उस जीव का लक्षण है। नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त विज्ञान स्वभाव ईश्वर ही जिसके अन्तगर्भ में पड़ा हुआ है और जो स्वयं नित्य विज्ञान का प्रतिबिम्ब चित्त सुखादि विषयक वृत्तिरूप चैत्य अविद्यादि रूप बीज और शरीरा-दिरूप कार्य के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुआ तत्तद्रूप हो गया एवं अनित्य विज्ञान वाला कल्पित जो जीव ईश्वर के लक्षण से विपरीत है, वही बाह्य माना गया है। जिसके उक्त औपाधिक स्वरूप का विच्छेद न होने के कारण संसार व्यवहार होता है और विच्छेद हो जाने से मोक्ष व्यवहार होता है। इसमें देव, पितृ और मनुष्यादि रूप जो भूतों का संघात विशेष है, वह मिट्टी के लेप के समान प्रत्यक्ष नष्ट हो जाने वाला और चिदात्मा से सर्वथा भिन्न है किन्तु जो तीनों अवस्थाओं की अपेक्षा चतुर्थ कहा जाता है, वह तीनों शरीरों से विलक्षण आत्मा है। उसे ईश्वर से भिन्न लक्षण वाला नहीं

---

१. बुद्ध्यादिभ्यो व्यतिरिक्ता इति—यादृशास्तार्किकैरुपगम्यन्ते तादृशा इत्यर्थः। २. विलक्षणा इत्यस्यैव व्याख्यानम्—ईश्वराद्भिन्नलक्षणा इति। ३. स्वाभिमतं जीवस्वरूपं निरूपयितुं तदङ्गमीश्वरस्वरूपमाह—एक एवेत्यादिना। ४. बाह्यो—जीव इत्यर्थः। ५. चक्षुरित्यादि—चक्षुरादीनां समाहारः संघातस्तत्संतानस्तत्परम्परा तत्राहंकारादिविपरीतप्रत्ययप्रबन्धाविच्छेदेन लक्ष्यत इति तथा। यद्वा तदविच्छेदो लक्षणं धर्मो यस्येति व्युत्पत्त्या तादृशाविच्छेदवानित्यर्थः। ६. नित्यविज्ञानावभास इति—नित्यविज्ञानेन विशेष्यभूतेन चैतन्यज्योतिषावभासत इति तथा। ७. असत्त्वात्तुरीयकल्पस्य निषेधोक्तिरियं—न पुनरित्यादिर्बुद्ध्यादीत्यादि तृतीयोक्त्यनन्तरं योज्याऽर्थानुरोधात्। ८. चोद्यं विवृण्वन्नाह—ईश्वरादित्यादि।

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा३इतीन्न्यमी-
मिषदा३इत्यधिदैवतम् ।।२९।।४।।

उस ब्रह्म का (उपासना सम्बन्धी) यह आदेश है, जो बिजली की चमक के समान एवं पलक मारने के समान प्रकट हुआ, वह उस ब्रह्म का अधिदैवत रूप है।।४।।

ब्रह्मेत्यतस्तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामतिशयेन शेरत इवान्यान्देवान्स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श यस्मात्स ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेत्युक्तार्थं वाक्यम् ।।२८।।४।।

तस्य प्रकृतस्य ब्रह्मण एष आदेश उपमोपदेशो [१]निरुपमस्य ब्रह्मणो [२]येनोपमानेनोपदेशः सोऽयमादेश इत्युच्यते। [३]किं तद्यदेतत्प्रसिद्धं लोके विद्युतो व्यद्युतद्विद्योतनं कृतवदित्येतदनुपपन्नमिति। विद्युतो विद्योतनमिति कल्प्यते। आ इत्युपमार्थे। विद्युतो विद्योतनमिवेत्यर्थः। "यथा सकृद्विद्युत्तम्" इति श्रुत्यन्तरे च दर्शनाद्विद्युदिव हि सकृदात्मानं दर्शयित्वा तिरोभूतं ब्रह्म देवेभ्यः। अथवा विद्युतस्तेज इत्यध्याहार्यम्।

।।२८।।३।।

विद्युतः सकाशाद्विद्योतनं कृतवदित्यनुपपन्नं ब्रह्मणः स्वयंज्योतिष्ट्वात्पराधीनप्रकाशानुपपत्तेर्विद्युत्संबन्धि द्योतनं कृतवदित्यनुपपन्नमन्याश्रयस्य विद्योतनस्यान्यकर्तृ [क] त्वानुपपत्तेरतो यथाश्रुता-

---

सर्वप्रथम इन्द्र ने सुना था कि यह ब्रह्म है। अतः इन अन्य देवताओं की अपेक्षा भी इन्द्र बढ़-चढ़ कर हुआ क्योंकि उसी इन्द्र ने सर्वाधिक समीप से इसका स्पर्श किया था। "यह ब्रह्म है" ऐसा सर्वप्रथम इन्द्र ने ही इसे जाना। शेष वाक्य का अर्थ पहले हो चुका है।।३।।

ब्रह्म के विषय में अधिदैव आदेश

उस प्रकृत के सम्बन्ध में यह उपमारूप उपदेश है। जिस उपमा के द्वारा निरुपम ब्रह्म का उपदेश किया जाए, वह आदेश कहा जाता है। वह है क्या? यह जो लोक में प्रसिद्ध विद्युत् का चमकना है, यहाँ "व्यद्युतत्" शब्द का प्रकाश किया, ऐसा अर्थ अयुक्त होने के कारण "विद्युत का चमकना" ऐसा अर्थ मानना पड़ता है। **"आ"** यह अव्यय उपमा अर्थ में है। तात्पर्य यह कि बिजली चमकने के समान यह तत्त्व है। ऐसा ही **"यथा सकृद्विद्युत्तम्"** इस अन्य श्रुति में भी देखा जाता है क्योंकि ब्रह्म भी बिजली के समान ही अपने अपको एक बार प्रकाशित कर देवताओं के सामने से तिरोहित हो गया था।

अथवा **"विद्युतः"** इस पद के आगे **"तेजः"** इस पद का अध्याहार करना चाहिए। **"व्यद्युतत्"**

---

१. निरुपमस्येति—वस्तुतः सादृश्यादिरहितस्येत्यर्थः। २. येनोपमानेनेति कल्पनयेत्यादिः। ३. किं तदिति—तदुपमानं किमित्यन्वयः।

व्यतिरेकाभिप्रायेण तु लक्षणभेदादित्याश्रयासिद्धो हेतुः। [१]ईश्वरादन्यस्याऽऽत्मनोऽसत्त्वात्। ईश्वरस्यैव विरुद्धलक्षणत्वमयुक्तमिति चेत्सुखदुःखादियोगश्च। न। निमित्तत्वे सति लोकविपर्ययाध्यारोपणात्सवितृवत्। यथा हि सविता नित्यप्रकाशरूपत्वाल्लोकाभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिनिमित्तत्वे सति लोकदृष्टिविपर्ययेणोदयास्तमयाहोरात्रादिकर्तृत्वाध्यारोपभाग्भवत्येवमीश्वरे नित्यविज्ञानशक्तिरूपे लोकज्ञानापोहसुखदुःखस्मृत्यादिनिमित्तत्वे सति लोकविपरीतबुद्ध्याऽध्यारोपितं विपरीतलक्षणत्वं सुखदुःखादयश्च न स्वतः। आत्मदृष्ट्यनुरूपाध्यारोपाच्च। यथा घनादिविप्रकीर्णेऽम्बरे येनैव

नास्तीति वदता सर्वोपाधिस्थ ईश्वर एवाऽऽत्मेत्युक्तं भवति। तदा च बद्धत्वमुक्तत्वादिविरुद्धधर्मत्वं सुखदुःखादियोगश्चासङ्गस्य विरुद्धः प्रसज्येतेत्यतो [२]वास्तवमसंसारित्वं कल्पितेन संसारित्वेन [३]न विरुध्यत इति दर्शयितुं यस्य यस्या[४]न्तःकरणादिविकारस्योदयादेः संनिधिमात्रेणाऽऽत्मा निमित्तं तस्य तस्य [५]लोकैरहंकारादिभिर्विपरीतरूपस्याध्यारोपणादात्मनः संसारित्वमित्याह— न निमित्तत्वे सतीत्यादिना। ईश्वरे सुखाद्यारोप इत्युक्ते मायोपाधिके ब्रह्मणीश्वरशब्दवाच्ये सुखाद्यध्यासशङ्का स्यात्तन्निवृत्त्यर्थमाह— नित्यविज्ञानशक्तिरूप इति। यथाऽग्न्यादिशक्तिः शक्त्यन्तरमन्तरेण स्वस्वभावादेव कार्योत्पादनानुकूला तथा नित्यविज्ञानं स्वभावसंनिधिमात्रेणान्तःकरणादिप्रवृत्तिनिमित्तमिति शक्तिरूपमुच्यते। [६]तस्मिन्स्वातन्त्र्यादीश्वरपदलक्ष्ये विरुद्धानेकधर्माध्यासो न विरुध्यत इत्यर्थः। लोकस्य ज्ञानापोहो विस्मरणम्। न स्वत इति। न परमार्थतो विरुद्धानेकधर्मवत्त्वमित्यर्थः। भ्रान्तस्य स्वदृष्ट्यनुरूपाध्यासारोपदर्शनाच्च नाध्यासो [७]वस्तुक्षतिकर इत्याह— आत्मदृष्टीति। बौद्धादि-

---

माना जाता है। यदि कहो कि बुद्धि आदि कल्पित आत्मा से निरुपाधिक आत्मा भिन्न है, इसीलिये हमने लक्षण भेद होने के कारण यह हेतु ईश्वर जीव के भेद सिद्ध करने में दिया है, तो यह हेतु आश्रयासिद्धरूप दोष से ग्रस्त है क्योंकि ईश्वर से भिन्न आत्मा की तो सत्ता ही नहीं है।

शंका :— तब तो ईश्वर में ही विरुद्ध लक्षणत्व एवं सुख-दुःखादि का योग कहना असंगत ही होगा?

समाधान :— ऐसी बात नहीं है क्योंकि सूर्य के समान आत्मा केवल निमित्त मात्र है। केवल आरोप के कारण उसमें लोगों की बुद्धि विपरीत होती है। जैसे नित्य प्रकाशस्वरूप सूर्य लौकिक पदार्थों की अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति में निमित्त मात्र है, फिर भी लोगों की दृष्टि में विपर्यय आ जाने के कारण उदय, अस्त, दिन एवं रात्रि आदि के कर्तृत्व का अध्यारोप सूर्य में किया जाता है, वैसे ही नित्य विज्ञान शक्तिस्वरूप ईश्वर में भी लोगों के ज्ञान का विनाश सुख-दुःख और स्मृति आदि की निमित्तता उपस्थित हो जाने पर लौकिक विपरीत बुद्धि के कारण ही उस ईश्वर में विपरीत लक्षण 'एवं सुख-दुःख

---

१. चोदयिताऽऽह—ईश्वरादित्यादि। २. समाधानभाष्यं स्फुटयन् वक्ति—वास्तवमित्यादि। ३. न विरुध्यत इति—कल्पितेन सर्पत्वेन वास्तवं रज्जुत्वमिवेत्यर्थः। ४. अन्तःकरणादिविकारस्येति—अन्तःकरणादीनामुपाधिभूतानां सुखदुःखादिविकारस्येत्यर्थः। ५. लोकैरहंकारादिभिरिति—समानाधिकरणे तृतीये। ६. तस्मिन्नीश्वरपदलक्ष्ये—इति समानाधिकरणे विभक्ती। ईश्वरपदलक्ष्यत्वे हेतुः—स्वातन्त्र्यादिति। अन्यानधीनसत्ताकत्वादिति यावत्। ७. वस्त्वधिष्ठानभूतम्।

[१]अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णꣳसंकल्पः।।३०।।५।।

इसके बाद अब अध्यात्म (उपासना) का आदेश कहते हैं—जो यह मन जाता हुआ-सा कहा जाता है, वह ब्रह्म है, इसी प्रकार उपासना करनी चाहिये क्योंकि इस मन से यह ब्रह्म का स्मरण करता है और बारम्बार संकल्प किया करता है।।५।।

व्यद्युद्विद्योतितवत्, आ इव। [२]विद्युतस्तेजः सकृद्विद्योतितवदिवेत्यभिप्रायः। इतिशब्द आदेशप्रतिनिर्देशार्थ इत्ययमादेश इति। इच्छब्दः समुच्चयार्थ। अयं चापरस्तस्याऽऽदेशः। कोऽसौ। न्यमीमिषत्। यथा चक्षुर्न्यमीमिषन्निमेषं कृतवत्। स्वार्थे णिच्। उपमार्थ एवाऽऽकारः। चक्षुषो विषयं प्रति प्रकाशतिरोभाव इव चेत्यर्थः। इत्यधिदैवतं देवताविषयं [३]ब्रह्मण उपमानदर्शनम् ।।२९।।४।।

अथानन्तरमध्यात्मं प्रत्यगात्मविषय आदेश उच्यते। यदेतद्गच्छतीव च मन

संभवा[४]दन्यत्र तात्पर्यं वक्तव्यमित्यर्थः। प्रतिनिर्देशार्थ इति। **परामर्शार्थः। चक्षुषो निमेषणं द्रुतं भवतीति प्रसिद्धं तद्वद्ब्रह्मणि क्षिप्रकारित्वं सृष्ट्यादौ प्रतिबन्धाभावेनाऽऽयासाभावेन च द्रुतकारित्वं धर्मो[५]ऽधिदैवतम्। [६]यद्धयेयं ब्रह्म तद्यथा विद्युतः प्रकाशो युगपद्विश्वव्यापकस्तथा निरतिशयज्योतिरूपं द्रुतं सकलसृष्ट्यादिकारि पारमैश्वर्यसंपन्नमित्युपमानोपदेशेनोक्तम्।।२९।।४।।**

अधुना प्रत्यगात्मतया ब्रह्मणो यथाऽभिव्यक्तिः स्यात्तथोपदिश्यत इत्याह— अथानन्तरमिति। **एतत्प्रकृतं ज्योतीरूपं ब्रह्म प्रति मदीयं मनो गच्छद्वर्तत इति चिन्तयेदिति य उपदेशः स आध्यात्मि-**

शब्द का अर्थ प्रकाशित हुआ और "आ" का अर्थ समान है। तात्पर्य यह कि जो ब्रह्म बिजली के तेज के सदृश एक बार प्रकाशित हुआ। "इति" शब्द आदेशार्थक है और "इत्" शब्द समुच्चयार्थक है। इसके अतिरिक्त दूसरा आदेश यह भी है। वह कौन-सा? जिस प्रकार नेत्र निमेष करता है, वैसे ही उसने भी निमेष किया। **'णिच्'** प्रत्यय स्वार्थ में है और **"आ"** उपमा अर्थ में है अर्थात् नेत्र के विषय से प्रकाश के छिप जाने के समान ऐसा अर्थ हुआ। इस प्रकार देवता विषयक ब्रह्म की उपमा दिखलायी गयी।।४।।

---

१. अथाध्यात्ममित्यादि—अत्र च द्वयमित्यर्थकं भिन्नक्रमं च। तथा च—एतद्ब्रह्म प्रति मनो गच्छतीवेत्येवमनेन मनसा साधक एतद्ब्रह्मोपस्मरति उपस्मरेद् ध्यायेदिति यत्तदध्यात्म सामान्ये नपुंसकम् इति य आदेश स आध्यात्मिक इत्यर्थः। इत्येकोऽन्वयः। अथापरः संकल्पश्चाभक्ष्णं ब्रह्मविषय इति चानेन मनसोपस्मरेदिति यत्तदध्यात्ममिति। २. विद्युतस्तेज इव सकृद्विद्योतितवद्ब्रह्मेत्यन्यः। ३. ब्रह्मण उपमानदर्शनमनेनोपमानेनोपासने देवताविषयं देवताशब्दवाच्यसगुणब्रह्मविषयमित्यर्थः। ४. अन्यत्रेति—व्यद्युदिति तिङन्तस्य विद्योतनमिति कृदन्तार्थ इत्यर्थः। ५. अधिदैवतमिति—देवताशब्दार्हसगुणब्रह्मह्याश्रित इत्येतत्। ६. उपमानोपदेशेन विधित्सितं सगुणब्रह्मणोपासनं स्पष्टयन्नाह—यद्धयेयमित्यादि।

सवितृप्रकाशो न दृश्यते स आत्मदृष्ट्यनुरूपमेवाध्यस्यति सवितेदानीमिह न प्रकाशयतीतिसत्येव प्रकाशेऽन्यत्र भ्रान्त्या। एवमिह बौद्धादिवृत्त्युद्भवाभिभवाकुलभ्रान्त्याऽध्यारोपितः सुख-दुःखादियोग उपपद्यते। तत्स्मरणाच्च। तस्यैवेश्वरस्यैव हि स्मरणम्। "मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च" "नाऽऽदत्ते कस्यचित्पापम्" इत्यादि। अतो नित्यमुक्त एकस्मिन्सवितरीव लोकाविद्याध्यारोपितमीश्वरे संसारित्वम्। शास्त्रादिप्रामाण्यादभ्युपगतमसंसारित्वमित्यविरोध इति। एतेन प्रत्येकं ज्ञानादिभेदः प्रत्युक्तः। सौक्ष्म्यचैतन्यसर्वगतत्वाद्यविशेषे च भेदहेत्वभावात्। विक्रियावत्त्वे चानित्यत्वात्। मोक्षे च

वृत्तीनामुद्भवाभिभवाभ्यामाकुलस्य वैचित्यमापन्नस्य वृत्तीनामेवोद्भवाभिभवौ न तद्व्या-पकचैतन्यस्येतिविवेकशून्यलोकय भ्रान्त्येति योजना। चैतन्यस्य ज्ञानसुखाद्युत्पादे निमित्तत्वं न केवलमन्वयव्यतिरेकसिद्धम्; तत्स्मरणाच्च भगवद्वाक्याच्च सिद्धमित्यर्थः। ईश्वरे संसारित्वमीश्वरः संसारीतिप्रसिद्ध्यभावाद्विशिष्टानुगतचित्स्वरूप इति व्याख्येयम्। एतेनेति। सिद्धसाधनत्वादिदूषणेन प्रतिशरीरज्ञानसुखादीनामाश्रयभेदस्तात्त्विकः प्रत्युक्तो मन्तव्यः किंच व्यावर्तकधर्मवशाद्व्यावृत्तिः सिध्यति। सांख्यमते च पुरुषाणां चैतन्यमात्ररूपाणां न व्यावर्तको धर्मोऽस्ति। वैशेषिकमते [१]त्वन्त्यविशेष-कल्पना[२]ऽन्योन्याश्रयपराहता। अतो निर्विशेषत्वात्पुंसां न भेदस्तात्त्विक इत्याह— सौक्ष्म्येति। कश्चिद्दुःखी कश्चित्सुखीति दुःखादिक्रियाव्यवस्थान्यथानुपपत्त्याऽऽश्रयभेदस्तात्त्विकः कल्प्यते तत्राऽऽह— विक्रियावत्त्वे चेति। [३]सुखादिविक्रियाणामुपाधिधर्मत्वान्नाऽऽत्मभेदसाधकत्वं [४]व्यधिकरणसिद्ध-त्वादित्यर्थः। किंच न सर्वैरेव मोक्षे विक्रियादिविशेष इष्यते। स्वरूपावस्थानं च मोक्षस्ततः सविशेषत्वं न स्वाभाविकमित्याह— मोक्षे चेति। किंच जाग्रतस्वप्नयोरविद्यावद्भिर्भ्रान्तैरुपलम्भा-

---

आश्रयत्व का आरोप कर लिया जाता है, स्वरूपतः उसमें ये सब कुछ भी नहीं है। इसके अतिरिक्त अपनी दृष्टि के अनुसार ही जीव उसमें आरोप करते हैं। जैसे मेघ आदि से आकाश के ढक जानेपर जिस व्यक्ति को सूर्य का प्रकाश नहीं दीखता, वही व्यक्ति अन्यत्र सूर्य का प्रकाश रहने पर भी भ्रमवश अपनी दृष्टि के अनुसार "इस समय यहाँ पर सूर्य प्रकाश नहीं है" ऐसा आरोप कर लेता है। ठीक वैसे ही इस आत्मतत्त्व में भी बुद्धि आदि की वृत्तियों के उदय और अस्त से विचित्रता को प्राप्त हुयी भ्रान्ति के कारण आरोपित सुख-दुःखादि का सम्बन्ध प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में उस ईश्वर की ही स्मृति भी है यथा "मुझसे ही जीवों को स्मरण, ज्ञान और अज्ञान प्राप्त होते रहते हैं" "परमेश्वर किसी के पाप को नहीं लेता है" इत्यादि। अतः सूर्य के समान एक ही नित्य मुक्त ईश्वर में लोगों ने अविद्या के कारण संसारित्व का आरोप कर लिया है। जब शास्त्रादि प्रमाणों से उसका असंसारित्व जान लिया गया, तब उस समय पूर्वोक्त सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं रह जाता। इससे प्रत्येक जीव के ज्ञानादि भेद का निराकरण भी हो गया क्योंकि उन सभी जीवों में सूक्ष्मत्व, चेतनत्व एवं सर्व-गतत्वादि धर्म समानरूप से रहने के कारण भेद का कोई कारण नहीं रह गया है। जीव को विकारी

---

१. अन्त्यविशेषेति—स्वतो व्यावृत्तत्वाभ्युपगमेन व्यावर्तकान्तरानपेक्षत्वाद्व्यावर्तकानामन्ते भवोऽन्त्यो विशेषपदार्थस्तत्कल्पनेत्यर्थः।
२. अन्योन्याश्रयेति—भेदज्ञाने हि सति भेदकं विना भेदासंभवाद्विशेषानुमानं तस्य रूपादिराहित्येन प्रत्यक्षासंभवात्। भेदकज्ञानाधीनं च भेदज्ञानमिति ज्ञप्तावन्योन्याश्रयस्तेन निरस्तेत्यर्थः। ३. नन्वात्मनोऽविक्रियत्वे प्रतीयमानाः सुखादिविक्रियाः कस्य धर्मा अत आह—सुखादीत्यादि।
४. व्यधिकरणसिद्धत्वादिति—साध्याद्भेदतो भिन्नाधिकरणत्वेन निश्चितत्वादित्यर्थः।

एतद्ब्रह्म ढौकत इव विषयी करोतीव [1]यथाऽनेन मनसैतद्ब्रह्मोपस्मरति समीपतः स्मरति साधकोऽभीक्ष्णं भृशं संकल्पश्च मनसो ब्रह्मविषयो [2]मनउपाधिकत्वाद्धि मनसः संकल्पस्मृत्यादिप्रत्ययैरभिव्यज्यते ब्रह्म[3]विषयीक्रियमाणमिव चातः स एष ब्रह्मणोऽध्यात्ममादेशो विद्युन्निमेषणवदधिदैवतं द्रुतं प्रकाशनधर्म्यध्यात्मं च मनः प्रत्ययसमकालाभिव्यक्तिधर्मीत्येष आदेशः। [4]एवमादिश्यमानं हि ब्रह्म मन्दबुद्धिगम्यं भवतीति ब्रह्मण आदेशोपदेशः। नहि निरुपाधिकमेव ब्रह्म मन्दबुद्धिभिराकलयितुं शक्यम्।।३०।।५।।

कोऽभीक्ष्णं पौनःपुन्येन मम मनसः संकल्पो ब्रह्मविषय एवेति ध्यायतः प्रत्यग्भूतब्रह्माभिव्यक्तिः स्यादित्याह— मनउपाधिकत्वाद्धीति। **उक्तमर्थं संक्षिप्याऽऽह—** विद्युन्निमेषणवदिति।।३०।।५।।

ब्रह्म के विषय में अध्यात्म आदेश

इसके अनन्तर अब प्रत्यगात्म सम्बन्धी अध्यात्म आदेश बतलाया जाता है। जो यह मन जाता हुआ-सा प्रतीत होता है, वह मानों ब्रह्म को ही विषय करता है। (जिस प्रकाश से मन की गमनागमन गति को जानता है) साधक पुरुष इस मन से उसके प्रकाशक ब्रह्म का जो बारम्बार समीप से स्मरण करता है, वह उसका अध्यात्म आदेश है। मन का संकल्प भी ब्रह्म को ही विषय करता है क्योंकि ब्रह्म मन रूप उपाधि वाला है। अतः मन की संकल्प स्मृति आदि प्रतीतियों से विषय किये हुए की भाँति ब्रह्म ही अभिव्यक्त होता है। अतएव यह ब्रह्म का अध्यात्म आदेश कहा गया है।

विद्युत् और निमेषोन्मेष की भाँति ब्रह्म शीघ्र प्रकाशित होने वाला है, यह अधिदैवत आदेश कहा गया है और वह मन की प्रतीतियों के समय अभिव्यक्त होता है। यह उसका अध्यात्म आदेश है। इस प्रकार बतलाये जाने पर ब्रह्म मन्द बुद्धि पुरुषों की भी समझ में आ जाता है। अतः यह सोपाधिक ब्रह्म का उपदेश है क्योंकि मन्दबुद्धि पुरुषों द्वारा निरुपाधिक ब्रह्म को जानना संभव नहीं है।।५ा।

---

१. यथेति—अनेन तथाहीत्यर्थकेन यथाशब्देन यदेतद्गच्छतीवेत्यत्रत्ययच्छब्दस्यैवार्थमाख्यातवानित्यवधेयम्। २. मन इत्यादि—यथा तोयोपाधिको भास्वांस्तोयस्य वीच्यादिभिरभिव्यज्यते तत्र प्रतिबिम्बन्। एवं मन उपहितं ब्रह्म तत्प्रत्ययैरेव तत्साक्षितयाऽभिव्यज्यत इत्यर्थः। ३. सा चाभिव्यक्तिर्ध्यानमप्यनुसरतीत्याह—विषयीक्रियमाणमिव चेति। वस्तुतः साक्षित्वेनैवाभिव्यज्यमानमपि तं यथा यथोपासत इति न्यायाद्विषयीभवदिवाभातीति भावः। ४. एवमादिश्यमानमिति—उपास्यतयोपदिश्यमानमित्यर्थः। यथोक्तमुपास्यमानमुपासनया बुद्धिमान्द्यापगमे सति सुगमं भवतीति यावत्।

विशेषानभ्युपगमादभ्युपगमे चानित्यत्वप्रसङ्गात्। अविद्यावदुपलभ्यत्वाच्च भेदस्य तत्क्षयेऽनुपपत्तिरिति सिद्धमेकत्वम्। [1]**तस्माच्छरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयदेवनासंतानस्याहंकार-संबन्धाद**[2]**ज्ञानबीजस्य** [3]**नित्यविज्ञानान्यनिमित्तस्याऽऽत्मतत्त्वयाथात्म्यविज्ञाना**[4]**द्विनि-वृत्तावज्ञानबीजस्य विच्छेद आत्मनो मोक्षसंज्ञा विपर्यये च बन्धसंज्ञा। स्वरूपापेक्षत्वादुभयोः। ब्रह्म ह, इत्यैतिह्यार्थः। पुरा किल देवासुरसङ्ग्रामे** [5]**जगत्स्थितिपरिपिपालयिषयाऽऽत्मा-**

त्सुषुप्तिसमाध्योर्भ्रान्त्यभावेऽनुपलम्भान्मिथ्यात्वं भेदस्य सिद्धमित्याह— अविद्यावदिति। [6]**जीवानां क्रमेणानेकशरीरानुयायित्वात्प्रातिभासिकस्य शरीरादिसंतानस्य** [7]**मिथ्याभिमानविषयत्वा**[8]**च्छुक्ति-रूप्यवद**[9]**ज्ञानबीजस्य विच्छेद आत्मनो मोक्षसंज्ञेति संबन्धः। आत्मन इति कस्मादुच्यते विशिष्टस्य बन्धमोक्षौ किं नेष्येते तत्राऽऽह—** स्वरूपापेक्षत्वादिति। **विशिष्टस्य मोक्षेऽन्वयासंभवादन्वये वा**

मानने पर उनमें अनित्यत्व आ जाएगा। इसके सिवा मोक्ष दशा में किसी ने भी आत्मा में कोई विशेष भाव स्वीकार नहीं किया है क्योंकि मोक्ष काल में किसी भी विशेष भाव को स्वीकार करने पर अनित्यत्व का प्रसंग आ जाएगा। इसके अतिरिक्त भेद तो केवल अज्ञानियों को ही दीखता है। उस अविद्या के क्षय हो जाने पर भेद की सिद्धि नहीं हो सकती है। अत: जीव और ईश्वर में एकत्व (युक्ति, प्रमाण तथा अनुभव से) सिद्ध है।

इसलिये अहंकार के सम्बन्ध से अज्ञान के बीजभूत शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय और तज्जनित ज्ञान का जो प्रवाह है, वह नित्य विज्ञान स्वरूप आत्मा से भिन्न किसी निमित्त के कारण ही स्थित है। आत्मतत्त्व के यथार्थ ज्ञान द्वारा उसकी निवृति हो जाने पर अज्ञान के बीज के उच्छेद को ही आत्मा का मोक्ष कहा गया है और इससे विपरीत का नाम बन्धन है, क्योंकि बन्ध और मोक्ष दोनों ही पूर्वोक्त उपाधियों के स्वरूप की अपेक्षा से हैं।

"ब्रह्म ह" इस मन्त्र में '**अव्यय**' इतिहास का द्योतक है। यह प्रसिद्ध है कि पहले देवासुर संग्राम

---

१. श्रुतियुक्तिभिर्वास्तवाभेदस्यैव सिद्धत्वादौपाधिकी बन्धमोक्षव्यवस्थाऽप्यविरुद्धेत्युपसंहारव्याजेनाह—तस्मादित्यादि। २. अज्ञानबीजस्येति—अज्ञानमात्माविद्याबीजमुपादानं यस्य तस्येत्यर्थः। ३. निमित्तमाह—नित्येति। नित्यविज्ञानं ब्रह्मचैतन्यमेव अन्यदुपादानादतिरिक्तं निमित्तं यस्य तस्येत्यर्थः। ४. विनिवृत्तावज्ञानबीजस्येति—अज्ञानाख्यस्य बीजस्य विनिवृत्तौ सत्यामित्यन्वयः। ५. जगत्स्थितिपरिपिपालयिषयेति—जगन्मर्यादां परिरक्षितुमित्यर्थः। देवा हि निरातङ्काः सन्तो वेदोक्तां जगन्मर्यादां वर्णाश्रमादिधर्मरूपां रक्षिष्यन्ति। असुरस्वातन्त्र्ये तु निर्मर्यादमेव भवेज्जगदिति भावः। ६. ननु संतानः परम्परा तद्व्यवहारश्च लोके युगपत्क्रमावस्थितेष्वेव दृष्टो यथेयं गिरिपरम्परेति प्रकृते तु वर्तमानशरीरादिसंनिधावितरासत्त्वात्कथं संतानव्यवहार इत्याशङ्क्य नायं संतानव्यवहारः स्थित्यपेक्षया किं तर्हि प्रतीत्यपेक्ष एवायमित्याशयेनाह—जीवानामित्यादि। पुण्यः पुण्येन, जायस्व म्रियस्व, महती विनष्टिः, इत्यादिश्रुतिभिः कृतहानादियुक्तिभिश्च जीवानां क्रमेणानेकशरीरानुबन्धित्वाद्यथोक्तश्रुतियुक्तिसमुत्थ-प्रतीत्या विषयीकृतस्य प्रातीतिकस्य जीवैः क्रमेणानुभूतत्वाद्वा तत्प्रतीतिविषयत्वेन प्रातिभासिकस्य शरीरादिसंतानस्येत्यर्थः। यदा त्वज्ञानबीजस्येत्यनन्तरं टीकायां विनिवृत्ताविति मौलिकपदं योजयित्वा ज्ञानात्मकबीजस्य विनिवृत्तौ शरीरादिसंतानस्य विच्छेद इत्यन्वयो विवक्ष्येत तदाऽज्ञानबीजस्येति प्रथममौलिकस्यैव व्याख्यानं प्रातिभासिकस्येति तथा च नयथोक्तक्लिष्टकल्पनेत्यवधेयम्। ७. अहंकारसंबन्धादिति भाष्यार्थमाह—मिथ्याभिमानविषयत्वादिति। ८. शुक्तिरूप्यवदिति—"तत्र तस्येवेति" षष्ठ्यन्तादिवार्थे वतिः। ९. अज्ञानबीजस्येति बहुब्रीहिः।

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति।।३१।।६।।

वह यह ब्रह्म ही वन (वननीय-भजनीय) है, अतः 'वन' इस नाम से उपासना करनी चाहिये। जो उसे इस प्रकार जानता है, उसको सभी भूत अच्छी प्रकार से चाहते हैं।।६।।

किंच तद्ब्रह्म ह किल तद्वनं नाम तस्य वनं तद्वनं तस्य प्राणिजातस्य प्रत्यगात्मभूतत्वाद्वननीयं संभाजनीयमतस्तद्वनं नाम प्रख्यातं ब्रह्म तद्वनमिति यतस्तस्मात्तद्वनमित्यनेनैव [१]गुणाभिधानेनोपासितव्यं चिन्तनीयमिति। अनेन नाम्नोपासकस्य फलमाह-स यः कश्चिदेतद्यथोक्तं ब्रह्मैवं यथोक्तगुणं वेदोपास्तेऽभि हैनमुपासकं सर्वाणि भूतान्यभिसंवाञ्छन्ति ह प्रार्थयन्त एव यथा ब्रह्म ।।३१।।६।।

एवमनुशिष्टः शिष्य आचार्यमुवाच—

।।३१।।६।।

[२]सगुणब्रह्मोपासनमैश्वर्यफलकमुक्तम्। [३]तत्र विरक्त उत्तमाधिकारी परमरहस्यं पृच्छतीत्याह— एवमनुशिष्ट इति।

वन नामक ब्रह्म की उपासना का फल

वैसे ही निःसन्देह वह ब्रह्म **"तद्वन"** नाम वाला है। **'तस्य वनं तद्वनम्'** ऐसा षष्ठी समास समझना चाहिये। उस प्राणी समुदाय का अन्तरात्मा स्वरूप होने के कारण ब्रह्म सम्भजनीय है। अतः उसका नाम तद्वन है क्योंकि ब्रह्म तद्वन नाम से प्रसिद्ध है। इसीलिये तद्वन इस गुण को अभिव्यक्त करने वाले नाम से ही उसकी उपासना करनी चाहिये। इस नाम से की गयी उपासना का फल बतलाते हैं। जो कोई इस पूर्वोक्त ब्रह्म को उपर्युक्त गुणों से युक्त मानकर उपासना करता है, उस उपासक से सभी प्राणी अपने अभीष्ट अर्थ की प्रार्थना वैसे ही करते हैं, जैसे ब्रह्म की।।६।।

---

१. गुणाभिधानेनेति—तद्वनत्वगुणबोधकेन नाम्नेत्यर्थः। २. अवान्तरतात्पर्यमादायाह—सगुणेत्यादि। ३. तत्रेति—ऐश्वर्य इत्यर्थः।

नुशासनानुवर्तिभ्यो देवेभ्योऽर्थिभ्योऽर्थाय विजिग्येऽजैषीदसुरान्ब्रह्मण इच्छानिमितो विजयो देवानां बभूवेत्यर्थः। तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त। यज्ञादिलोकस्थित्यपहारिष्वसुरेषु पराजितेषु देवा वृद्धिं पूजां वा प्राप्तवन्तः ।।१४।।१।।

त ऐक्षन्तेति मिथ्याप्रत्ययत्वाद्धेयत्वख्यापनार्थ[१]माम्नायः। ईश्वरनिमित्ते विजये स्वसामर्थ्यनिमित्तोऽस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेत्यात्मनो जयादि श्रेयोनिमित्तं सर्वात्मानमात्मस्थं सर्वकल्याणास्पदमीश्वरमेवऽऽत्मत्वेनाबुद्ध्वा पिण्डमात्रा-

---

संसारानिवृत्तिप्रसङ्गादन्यस्य च बन्धेऽन्यस्य च मोक्षे [२]साधनवैयर्थ्यादुपाधि[३]वैशिष्ट्यद्वारेण स्वरूपस्यैवो[४]पाधिप्रतिबिम्बकल्पस्य बन्धमोक्षौ। [५]प्रतिबिम्बो हि [६]वाच्यरूपेण [७]मिथ्या [८]लक्ष्यरूपेण तु बिम्बमेवेति स्वरूपावस्थानं मुक्तिरूपपद्यते। तदुक्तम्—

"[९]उपाधिना [१०]सार्धमुपाधिजन्य[११]मौपाधिकं [१२]सर्वमवेहि मिथ्या।

[१३]भागं [१४]मृषा चित्प्रतिबिम्बकेऽपि [१५]बिम्बं पुनः [१६]सत्यमशेषमेव" इति ।।१४।।१।।

त ऐक्षन्तेति देवानामीक्षणस्य मिथ्याप्रत्ययत्वान्मिथ्याभिमानस्य हेयत्वख्यापनार्थो ब्रह्मणः प्रादुर्भाव इति योजना। सूत्रमिदं व्याख्याति— ईश्वरनिमित्त इत्यादिना। **जयादि श्रेष्ठत्वे निमित्तं**

में ब्रह्म ने लोक मर्यादा की रक्षा के लिये अपनी आज्ञा के वशवर्ती विजय चाहने वाले देवताओं के लिये असुरों को जीत लिया अर्थात् देवताओं की विजय ब्रह्म की इच्छा मात्र से हो गयी। उस ब्रह्म की विजय में देवता महिमान्वित हुए। लोक मर्यादा के कारण यज्ञादि को नष्ट करने वाले असुरों के हार जाने पर देवगण वृद्धि अथवा पूजा प्राप्त किये।।१।।

"त ऐक्षन्त" इत्यादि आगम वाक्य अभिमान में हेयत्व प्रतिपादन करने के लिये है, क्योंकि अभिमान मिथ्या प्रतीति स्वरूप भ्रम है। ईश्वर के निमित्त से प्राप्त हुई विजय में देवताओं को अभिमान हो गया। यह विजय हमारे सामर्थ्य से प्राप्त हुई है, अतः हमारी ही विजय है और हमारी ही महिमा है, इस प्रकार अभिमान के कारण अपनी विजय आदि कल्याण के निमित्त स्वरूप

---

१. आम्नाय इति — तद्धैषामित्यादिर्ब्रह्मप्रादुर्भावविषय आम्नाय इत्यर्थः। २. साधनवैयर्थ्यादिति—वैयर्थ्यनिश्चयेन साधने प्रवृत्त्यनुपपत्तेरिति भावः। ३. वैशिष्ट्यद्वारेण स्वरूपस्यैव बन्धमोक्षावित्यन्वयः। ४. उपाधिप्रतिबिम्बकल्पस्येति—उपाधिसंबन्धात्प्रतिबिम्बतामिवापन्नस्येत्यर्थः। प्रतिबिम्बभावस्य स्वरूपे कल्पितत्वात् कल्पप्रयोगः । ५. ननु प्रतिबिम्बकल्पस्य बन्धमोक्षावित्यसंगतं मोक्षांशे, प्रतिबिम्बस्य औपाधिकतया मिथ्यात्वेन मोक्षेऽनवस्थानादत आह—प्रतिबिम्बो हीति। ६. वाच्यरूपेणेति—विशिष्टरूपेणेत्यर्थः। ७. मिथ्याविशेषणस्य मिथ्यात्वादिति भावः। ८. लक्ष्यरूपेणेति—निष्कृष्टविशेषणांशकत्वेनेति यावत्। ९. उपाधिना—अन्तःकरणादिना। १०. सार्धम्—साकम्। ११. औपाधिकं कर्तृत्वसुखदुःखादिकम्। १२. सर्वमिति—उपाधिसाहित्येन प्रतिबिम्बोऽपि मिथ्यैवौपाधिकत्वाविशेषादिति भावः। १३. कथं तर्हि मिथ्याभूतस्य तस्य बिम्बसंपत्तिरित्याशङ्क्योपाधिराहित्येनेत्यभिप्रेत्याह—भागमित्यादि। बुद्ध्यादिविशिष्टचित्प्रतिबिम्बे बुद्ध्यादिरेव मिथ्या तन्मुक्तः प्रतिबिम्बस्तु बिम्ब एवेति सर्वः सत्य एवेति भावः। १४. चित्प्रतिबिम्बकेऽपि बुद्ध्यादिविशिष्टे चित्प्रतिबिम्ब इत्यर्थः। भागं विशेषणाशं मृषा अवेहीति सम्बन्धः। १५. बिम्बं पुनः सत्यमशेषमेवेति— बिम्बं चिन्मात्रं तस्य निर्भागत्वेऽप्यशेषत्वोक्तिबिम्बत्वप्रतिबिम्बत्वकल्पनया। तथा च बिम्बात्मना प्रतिबिम्बात्मना च चिन्मात्रं तु सत्यमेव नात्र विशिष्टवन्मिथ्याभागित्वमित्यर्थः। १६. बिम्बं त्वशेषमेव सत्यमवेहीत्यन्वयः।

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद्ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ।।३२।।७।।

हे गुरु जी! मुझे उपनिषद् बतलाओ। (शिष्य के ऐसा कहने पर आचार्य ने कहा—) हमने तुझे उपनिषद् कह दी। अब हम तेरे लिये ब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाली उपनिषद् बतलायेंगे ।।७।।

उपनिषदं रहस्यं यच्चिन्त्यं भो भगवन्ब्रूहीत्येवमुक्तवति शिष्य आहाऽऽचार्यः। उक्ताऽभिहिता ते तवोपनिषत्। का पुनः सेत्याह—ब्राह्मीं ब्रह्मणः परमात्मन इयं तां परमात्मविषयत्वादतीतविज्ञानस्य वावैव त उपनिषदमब्रूमेत्युक्तामेव परमात्मविद्यामुपनिषदमब्रूमेत्यवधारयत्युत्तरार्थम्। परमात्मविषयामुपनिषदं श्रुतवत उपनिषदं भो ब्रूहीति पृच्छतः शिष्यस्य कोऽभिप्रायः। यदि तावच्छ्रुतस्यार्थस्य प्रश्नः कृतस्ततः पिष्टपेषणवत्पुनरुक्तोऽनर्थकः प्रश्नः स्यादथ सावशेषोक्तोपनिषत्स्यात्ततस्तस्याः फलवचनेनोपसंहारो न युक्तः "प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ती"ति। तस्मादुक्तोपनिषच्छेष-

---

[१]परमरहस्यं श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिनोक्तमेवोत्तरार्थमित्युत्तरग्रन्थेन [२]विद्याप्राप्त्युपायविधानार्थमुक्ता विद्या [३]निरपेक्षैवेत्यवधारयति। अवधारणार्थत्वं प्रतिवचनस्य चोद्यमुखेन स्फुटयति— परमात्मविषयामित्यादिना। किं पूर्वोक्तोपनिषच्छेषतयाऽन्यदपेक्षते। शेषशब्देन [४]फलोपकार्यङ्गं विवक्षितम्। सहकारिशब्दे-

---

उपसंहार

इस प्रकार उपदेश पाकर शिष्य ने आचार्य से कहा—हे भगवान्! जो चिन्तनीय रहस्यमय उपनिषत् है, उसे बतलावें। शिष्य के ऐसा कहने पर आचार्य ने कहा—उपनिषत् तो तुझे बतला दी गयी ही। वह उपनिषत् क्या है? इसे कहते हैं। हमने तुझे परमात्म सम्बन्धिनी उपनिषत् ही बतलायी है क्योंकि पहले बतलाया गया विज्ञान परमार्थ विषयक ही था। निःसन्देह **"ते उपनिषदमब्रूम"** इस वाक्य से पूर्व कही गयी उपनिषत् को ही लक्ष्य करके मैंने तुझसे परमार्थ सम्बन्धिनी उपनिषत् ही कही है। इस प्रकार अग्रिम ग्रन्थ का विषय स्पष्ट करने के लिये निश्चय करते हैं। (कि उत्तर ग्रन्थ में उपनिषत् का वर्णन नहीं है) परमात्मविषयक उपनिषत् को सुन लेने के बाद "उपनिषत् मुझसे कहें"

---

१. अभिहितोपनिषदित्यस्यार्थमाह—परमरहस्यमिति। २. विधाप्राप्त्युपायविधानार्थमिति—इत्थमनवधारणे हि विधास्यमानानां तपःप्रभृतीनां विद्यासहकारितया मोक्षप्राप्त्युपायत्वं शङ्क्येतेति भावः। ३. निरपेक्षैवेति—मोक्षं प्रति सहकारिसाधनान्तरानपेक्षैवेत्यर्थः। अनुपदमेव चैतद् व्यक्तीभविष्यति। ४. फलोपकार्यङ्गमिति—यथा दर्शादेः प्रयाजादि।

भिमानाः सन्तो यं मिथ्याप्रत्ययं चक्रुस्तस्य पिण्डमात्रविषयत्वेन मिथ्याप्रत्ययत्वात्सर्वात्मेश्वरयाथात्म्यावबोधेन हातव्यताख्यापनार्थस्तद्धैषामित्याद्याख्यायिकाम्नायः। तद्ब्रह्म ह किलैषां देवातामभिप्रायं मिथ्याहंकाररूपं विजज्ञौ विज्ञातवत्। ज्ञात्वा च मिथ्याभिमानशातनेन तद[1]नुजिघृक्षया तेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय तेषामेवेन्द्रियगोचरे नातिदूरे प्रादुर्बभूव। महेश्वरशक्तिमायोपात्तेनात्यन्ताद्भुतेन प्रादुर्भूतं किल केनचिद्रूपविशेषेण। तत्किलोपलभमाना अपि देवा न व्यजानत न विज्ञातवन्तः। किमिदं यदेतद्यक्षं पूज्यमिति ।।१५।।२।।

तद्विज्ञानायाग्निमब्रुवन्। तृणनिधानेऽयमभिप्रायोऽत्यन्तसंभावितयोरग्निमारुतयोस्तृणदहनादानाशक्त्या[2]ऽऽत्मसंभावना शातिता भवेदिति। [3]इन्द्र आदित्यो [4]वज्रभृद्वा। [5]अविरोधात्। इन्द्रोपसर्पणे ब्रह्म तिरोदध इत्यत्रायमभिप्रायः—इन्द्रोऽहमित्यधिकतमोऽ-

---

मन्यमाना इति शेषः ।।१५।।२।।

सर्वात्मा, सम्पूर्ण कल्याणों के आश्रय, हृदय में स्थित परमेश्वर को आत्मभाव से न जानकर पिण्डमात्र में अभिमान करने वाले उन देवताओं ने जो मिथ्या निश्चय कर लिया था, वह पिण्डमात्र से सम्बन्धित मिथ्या ज्ञानरूप था। अतः सर्वात्मा ईश्वर के यथार्थ स्वरूप के बोध से उस मिथ्या प्रत्यय में हेयत्व बतलाने के लिये ही "वह ब्रह्म उन देवताओं के अभिप्राय को समझ गया" इत्यादि आख्यायिकारूप आगम है। उस ब्रह्म ने देवताओं के मिथ्या अहंकाररूप अभिप्राय को समझ लिया और उसे जानकर उस मिथ्याभिमान के छेदन द्वारा देवताओं के ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा से वह ब्रह्म देवताओं के लिये ही उनकी इन्द्रियों का विषय हो गया अर्थात् समीप में ही प्रकट हुआ। उस समय वह महेश्वर की शक्ति माया से ग्रहण किये किसी अद्भुत रूप विशेष से प्रकट हुआ। जिसे देख देवता भी न जान सके अर्थात् न पहिचान सके कि यह पूज्यरूप यक्ष कौन है।।२।।

देवताओं ने उसे पहिचानने के लिये अग्नि से कहा। अग्नि और वायु के सामने तृण रखने में ब्रह्म का यही अभिप्राय था कि एक तिनके को जलाने और उड़ाने में असमर्थ हो जाने पर अत्यन्त प्रतिष्ठित इन अग्नि और वायु का आत्माभिमान नष्ट हो जायगा।।३-१०।।

इन्द्र, आदित्य अथवा वज्रधारी देवेन्द्र का नाम है, क्योंकि दोनों ही अर्थों में कोई विरोध नहीं।

---

१. अनुजिघृक्षयेति—एतदनन्तरं तेभ्य इति पठितव्यम्। २. आत्मसंभावना—आत्मनि महत्वाभिमानः। ३. द्वादशादित्यानां मध्ये ज्यैष्ठमासिक आदित्य इन्द्रनामा स्मर्यते तदभिप्रायेणाह—इन्द्र आदित्य इति। ४. प्रसिद्धो वा देवराडिहेन्द्र इत्याशयेनाह—वज्रभृद्वेति। महाभारतादिपर्वणि द्वादशादित्याश्चेत्थं पठ्यन्ते तथाहि "धातार्यमा च मित्रश्च वरुणोंऽशुर्भगस्तथा। इन्द्रो विवस्वान् पूषा च पर्जन्यो दशमः स्मृतः।१। ततस्त्वष्टा ततो विष्णुरजघन्यो जघन्यज इति"। मासभेदे आदित्यभेदा आदित्यहृदये दर्शिताः। यथा— "अरुणो माघमासे तु सूर्यो वै फाल्गुने तथा। चैत्रे मासि च वेदज्ञो वैशाखे तपनः स्मृतः। ज्यैष्ठे मासि भवेदिन्द्र आषाढ़े तपते रविः। गभस्तिः श्रावणे मासि यमो भाद्रपदे तथा।। इषे हिरण्यरेताश्च कार्तिके च दिवाकरः। मार्गशीर्षे तपेच्चित्रः पौषे विष्णुः सनातनः।। इत्येते द्वादशादित्याः काश्यपेयाः प्रकीर्तिता" इति। ५. अविरोधादिति—"ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये" इति देवानां प्रस्तावे इन्द्रपदमुक्तान्यतरपरं न विरुध्यते उभयोर्देवत्वाविशेषात्। इन्द्रपदेनोक्तान्यतरग्रहणे कोशप्रायस्मृत्यादिविरोधाभावाच्चेत्यर्थः।

विषयोऽपि प्रश्नोऽनुपपन्न एवानवशेषितत्वात्। कस्तर्ह्यभिप्रायः प्रष्टुरित्युच्यते। [१]किं पूर्वोक्तोपनिषच्छेषतया तत्सहकारिसाधनान्तरापेक्षा। अथ निरपेक्षैव। सापेक्षा चेद[२]पेक्षितविषयामुपनिषदं ब्रूहि। अथ निरपेक्षा चेदवधारय पिप्पलादवन्नातः परमस्तीत्येवमभिप्रायः। एतदुपपन्नमाचार्यस्यावधारणवचनमुक्ता त उपनिषदिति। [३]ननु नावधारणमिदं, यतोऽन्यद्वक्तव्यमित्याह तस्यै तपो दम इत्यादि? सत्यं वक्तव्यमुच्यत आचार्येण नतूक्तोपनिषच्छेषतया तत्सहकारि[४]साधनान्तराभिप्रायेण वा। किन्तु ब्रह्मविद्याप्राप्त्युपायाभिप्रायेण वेदैस्तदङ्गैश्च सह पाठेन [५]समीकरणात्तपःप्रभृतीनाम्। न हि वेदानां शिक्षाद्यङ्गानां च [६]साक्षाद्ब्रह्मविद्याशेषत्वं तत्सहकारि-

---

[७]नानुपसर्जनमपि समुच्चयार्हं विवक्षितम्। एवं शिष्याभिप्रायमुपवर्ण्य समाधानमाह— एतदुपपन्नमिति। **विद्याङ्गत्वहीनैः सह पाठात्तपःप्रभृतीनां विद्याङ्गत्वं नास्तीत्युक्तम्। तत्र योग्यतावशेन शेषशेषिभावः।**

ऐसा पूछने में शिष्य का क्या अभिप्राय है? यदि सुनी हुई बात के विषय में ही उसने पूछा तो उसका पुनः कथन पीसे हुए को पीसने की भाँति व्यर्थ ही है और यदि पहले कही हुई उपनिषत् असम्पूर्ण होती तो "इस लोक से प्रयाण कर वे अमर हो जाते हैं" इस प्रकार फल कथन द्वारा उसका उपसंहार युक्त नहीं होता। अतः पूर्वोक्त उपनिषत् के शेष अंश के सम्बन्ध में प्रश्न भी असंगत ही है क्योंकि उसमें कोई बात शेष नहीं रखी गई थी। फिर भला, पूछने वाले का अभिप्राय क्या हो सकता है। इस पर कहते हैं—पहले जो उपनिषत् बतलायी गई है, उसके शेषरूप से किन्ही अन्य सहकारी साधनों की अपेक्षा है अथवा वह सर्वथा निरपेक्ष ही कह दी गई है? यदि सापेक्ष हो तो अपेक्षित विषयक उपनिषत् को बतलावें और यदि निरपेक्ष है तो पिप्पलाद की भाँति "इससे पर कुछ नहीं है" इस प्रकार निर्धारण करें। बस यही शिष्य के प्रश्न का अभिप्राय है। इसीलिये "तुझसे उपनिषत् बतला दी गई है" आचार्य का यह अवधारण वाक्य युक्त ही है।

शंका :— यह अवधारण नहीं हो सकता क्योंकि "तस्यै तपो दमः" इत्यादि वाक्य द्वारा कुछ अन्य वक्तव्य कहा गया है।

समाधान :— ठीक है, आचार्य ने कुछ वक्तव्य विषय को कहा है, फिर भी उसे पूर्वोक्त उपनिषत् के शेष रूप से अथवा उसके अन्य सहकारी साधनरूप से नहीं कहा है किन्तु ब्रह्मविद्या की

---

१. किं पूर्वोक्तोपनिषदित्यादि—श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिनोक्ता ब्रह्मविद्या फलोपधाने स्वस्यां सामर्थ्याधायकं किमपि स्वाङ्गमनङ्गमपि वा फलोपजनने सहकारिमात्रं किमपि स्वान्यदपेक्षते किमित्यर्थः। २. अपेक्षितविषयामुपनिषदमिति—अपेक्षितं विषयो यस्यास्तां विद्यामित्यर्थः। अपेक्षितप्रतिपादकं ग्रन्थमिति यावत्। ३. ननु नावधारणमिदमिति—इदं निरपेक्षैव विद्येत्यवधारणं नोपपन्नं नन्वित्यर्थः। ४. साधनान्तरेति—भावप्रधानो निर्देशः। ५. समीकरणाद्—समत्वापादनात्। ६. विद्याजनकत्वरूपविद्याशेषत्वे सत्यपि फलोपकार्यङ्गत्वं निषेधति—साक्षादिति। ७. अनुपसर्जनमपि समुच्चयार्हमिति—यथा दर्शपौर्णमासावेव मिथः।

भिमानोऽस्य सोऽहमग्न्यादिभिः प्राप्तं वाक्संभाषणमात्रमप्यनेन न प्राप्तोऽस्मीत्यभिमानं कथं न नाम जह्यादिति। तदनुग्रहायैवान्तर्हितं तद्ब्रह्म बभूव ।।१६।।३।।१७।।४।।१८।।५।। १९।।६।।२०।।७।।२१।।८।।२२।।९।।२३।।१०।।२४।।११।।

स शान्ताभिमान इन्द्रोऽत्यर्थं ब्रह्म विजिज्ञासुर्यस्मिन्नाकाशे ब्रह्मणः प्रादुर्भाव आसीत्तिरोधानं च तस्मिन्नेव [१]स्त्रियमतिरूपिणीं विद्यामाजगाम। [२]अभिप्रायोद्बोधहेतुत्वाद्रुद्रपत्न्युमा हैमवतीव सा शोभमाना [३]विद्यैव विरूपोऽपि विद्यावान्बहु शोभते ।।२५।।१२।।

इति तृतीयः खण्डः ।।३।।

[४]तां च पृष्ट्वा तस्या एव वचनाद्विदांचकार विदितवान्। अत इन्द्रस्य बोधहेतु-

---

।।१६।।३।।१७।।४।।१८।।५।।१९।।६।।२०।।७।।२१।।८।।२२।।९।।२३।।१०।।२४।।११।।२५।।१२।।

इति तृतीयः खण्डः ।।३।।

इन्द्र के निकट में आते ही जो ब्रह्म तिरोहित हो गया, उसमें यह अभिप्राय था कि (ब्रह्म ने देखा) मैं देवराज इन्द्र हूँ, ऐसा मानकर सबसे अधिक अभिमान इसी को है। अतः अग्नि आदि देव को जो मेरे साथ वाणी से सम्भाषणमात्र भी प्राप्त हुआ था, उतने मात्र के लिये भी मैं इसे प्राप्त न हो सकूँगा। ऐसा विचार कर यह इन्द्र किसी प्रकार अपना अभिमान छोड़ दे। बस इन्द्र पर कृपा करने के लिये ही ब्रह्म तिरोहित हो गया।।११।।

अभिमान शान्त हो जाने पर वह इन्द्र ब्रह्म का अत्यन्त जिज्ञासु होकर उसी आकाश में एक अत्यन्त रूपवती विद्यास्वरूपा स्त्री के पास गया। यहाँ पर ब्रह्म का प्रादुर्भाव एवं तिरोभाव हुआ था। उसके छिपने के अभिप्राय को प्रकट करने के लिये वह रुद्र पत्नी हिमालयतनया पार्वती के समान अत्यन्त सुन्दर ब्रह्मविद्या ही थी। रूपहीन होने पर भी विद्वान् पुरुष अत्यन्त सुशोभित होता है।।१२।।

।। इति तृतीय खण्ड ।।

।। अथ चतुर्थ खण्ड ।।

उस उमा से पूछकर उसी के वचन द्वारा इन्द्र ने ब्रह्म को जाना था। अतः इन्द्र के बोध का हेतु होने के कारण उमा ब्रह्मविद्या ही है। "ईश्वर विद्यासहायवान् है" ऐसी स्मृति भी कहती है क्योंकि

---

१. स्त्रीपदं लक्षितलक्षणया विद्यापरमित्याशयेनाह—स्त्रियमतिरूपिणीं विद्यामिति। २. स्त्री विद्याऽत्र विवक्षितेत्यत्र हेतुमाह—अभिप्रायोद्बोधहेतुत्वादिति। किमिदं यक्षमिति य इन्द्रस्याभिप्रायो विशयविषय इति यावत्। तद्बोधहेतुत्वात् स्त्र्यत्र विद्याबोधहेतुः सत्त्वप्रधाना शक्तिरित्यर्थः (तद्बोधस्तदीयः सम्यग्बोध इत्यर्थः)। ३. विद्यैवेत्येवकारेण स्त्रीविग्रहः प्रतिषिध्यते। तस्याः शोभमानत्वोक्तिः स्वाश्रयशोभाप्रयोजकत्वादित्याशयेनाह—विरूपोऽपि विद्यावान् बहुशोभत इति। अष्टावक्रोऽत्र निदर्शयितव्यः। उक्तं च हरिणा— "केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला, न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्धजाः। वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते, क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणमिति"।। वाक् च सरस्वती विद्येति यावत्। ४. तां च पृष्ट्वा तस्या एव वचनादिति—आख्यायिकालंकार एवायं तद्बलादिति यावत्।

साधनत्वं वा सहपठितानामपि यथायोग्यं विभज्य विनियोगः स्यादिति [१]चेद्यथा सूक्तवाकानुमन्त्रणमन्त्राणां यथादैवतं विभागस्तथा तपोदमकर्मसत्यादीनां ब्रह्मविद्या-शेषत्वं तत्सहकारिसाधनत्वं वेति कल्प्यते। वेदानां तदङ्गानां चार्थप्रकाशकत्वेन कर्मात्म-ज्ञानोपायत्वमित्येवं ह्ययं विभागो युज्यते[२]ऽर्थसंबन्धोपपत्तिसामर्थ्यादिति चेत्। नायुक्तेः। न ह्ययं विभागो घटनां प्राञ्चति। न हि सर्वक्रियाकारकफलभेदबुद्धि-तिरस्कारिण्या ब्रह्मविद्यायाः शेषापेक्षा सहकारिसाधनसंबन्धो वा युज्यते। सर्वविषय-

[३]सहपाठस्त्वकिंचित्कर इति शङ्कते— सहपठितानामपीति। "अग्निरिदं हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत्। अग्नीषोमाविदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महो ज्यायोऽक्राताम्" इत्यादिनैव सूक्तवाकेन सर्वयागसमाप्तौ [४]देवतानुमन्त्रणं क्रियते। तत्र यद्यप्यस्मिन्सूक्तवाके बह्व्यो देवताः पठ्यन्ते तथाऽपि यस्मिन्यागे या देवताऽऽहूता तस्या एव विसर्जने योग्यतावशादस्य सूक्तवाकस्य यथा [५]विनियोगस्तथा तपःप्रभृतीना-मेव विद्याशेषत्वेन विनियोगो भविष्यतीत्यर्थः। भवेत्सूक्तवाकस्य विनियोगो योग्यतासंभवात् न कर्मणां, विद्याविरुद्धत्वेन योग्यताया [६]अयोग्यत्वादित्याह— नायुक्तेरिति। विद्याया विषयपर्यालोचनया फलपर्यालोचनया च नास्ति [७]तत्त्वतः संबन्धयोग्यता प्रत्युत कर्मणामनुपयोगात्कर्मणां त्याग एव मुमुक्षुणा कर्तव्य इत्याह— सर्वविषयेति। सर्वेभ्य उत्पाद्यादिभ्यः कर्मगोचरेभ्यो व्यावृतो यः

प्राप्ति के उपाय बतलाने के अभिप्राय से कहा है क्योंकि अग्रिम मन्त्र में वेद और उनके अंगों के साथ तप आदि का पाठ करके उनसे उनकी समानता बतला दी गई है। जब वेद और शिक्षादि वेदांग ब्रह्मविद्या के साक्षात् अंग या उसके सहकारी साधन नहीं हैं तो इनके साथ पढ़े गये तप आदि ब्रह्मविद्या के साक्षात् अंग या साधन कैसे हो सकते है।

शंका :— एक साथ पाठ होने पर भी सम्बन्ध अनुसार विभाग कर (तप आदि का) विनियोग ब्रह्मविद्या में किया जा सकता है। जैसे सूक्त वाक रूप अनुमन्त्रण मन्त्रों का उनके देवताओं के अनुसार विभाग किया जाता है, वैसे ही तप, दम, कर्म और सत्यादि को भी ब्रह्मविद्या का अंग या सहकारी साधन माना जा सकता है क्योंकि अर्थ प्रकाशक होने से वेद और उनके अंग भी कर्म तथा आत्मज्ञान के साधन हैं ही। इस प्रकार अर्थ सम्बन्ध की संगति के बल से उनका ऐसा विभाग करना ठीक ही है। ऐसा यदि कहें?

समाधान :— युक्ति विरुद्ध होने के कारण ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि यह विभाग इस प्रसंग के अनुकूल नहीं है। सभी क्रिया, कारक, फल आदि भेद बुद्धि का तिरस्कार करने वाली ब्रह्मविद्या में किसी शेष की अपेक्षा मानना अथवा सहकारी साधनों का सम्बन्ध बतलाना उचित नहीं है।

१. सहेत्यादि चेदन्तं सूत्रभाष्यं विभजते—यथेत्यादिना। २. अर्थेत्यादि—यस्यार्थस्य येनार्थेन साकं सम्बन्ध उपपद्यते सा तस्यार्थसम्बन्धोपपत्तिस्तद्बलादित्यर्थः। अर्थानां यथोपपत्तिसम्बन्धाभ्युपगमस्य न्याय्यत्वादिति यावत्। ३. सहपाठस्त्वकिंचित्कर इति —न हि च्छत्रोपानहमिति सहपाठेऽप्युभयोरेकत्र विनियोग इति भावः। ४. देवतानुमन्त्रणं—देवानां विसर्जनम्। ५. विनियोगः —यथार्हमूहेन प्रयोग इति यावत्। ६. अयोग्यत्वादिति—असंभवादिति यावत्। ७. समुच्चयवाद्यादिभिर्भ्रान्त्या कल्पितं सम्बन्धं वारयितुमाह—तत्त्वत इति। श्रुतियुक्त्यादित इति यावत्।

त्वाद्विद्यैवोमा। [1]विद्यासहायवानीश्वर इति [2]स्मृतिः। यस्मादिन्द्रविज्ञानपूर्वकमग्निवाय्विन्द्रास्ते ह्येनन्नेदिष्ठमतिसमीपं ब्रह्मविद्यया ब्रह्म प्राप्ताः सन्त पस्पृशुः स्पृष्टवन्तः। ते हि प्रथमः प्रथमं विदांचकार विदाचक्रुरित्येतत्। तस्माददतितरामतीत्यान्यानतिशयेन दीप्यन्तेऽन्यान्देवां-स्ततोऽपीन्द्रोऽतितरां दीप्यते। आदौ ब्रह्मविज्ञानात् ।।२६।।१।।२७।।२।।२८।।३।।

तस्यैष आदेशस्तस्य ब्रह्मण एष वक्ष्यमाण आदेश उपासनोपदेश इत्यर्थः। यस्माद्देवेभ्यो विद्युदिव सहसैव प्रादुर्भूतं ब्रह्म द्युतिमत्तस्माद्विद्युतो विद्योतनं यथा यदेतद्ब्रह्म व्यद्युतद्विद्योतितवत्। आ इवेत्युपमार्थ आशब्दः। यथा घनान्धकारं विदार्य विद्युतसर्वतः प्रकाशत एवं तद्ब्रह्म देवानां पुरतः सर्वतः प्रकाशवद्व्यक्तीभूतमतो

विद्येति सत्त्वप्रधाना [3]शक्ति[4]श्चित्तादात्म्यापत्त्या [5]बोधहेतुः।

[6]तस्मादित्यस्या[7]पेक्षितं [8]पाठव्यत्यासेन व्याचष्टे— यस्मादित्यादिना। अर्थवादोपसंहारो[9]ऽयं [10]विध्युप्रक्रमार्थम्।।२६।।१।।२७।।२।।२८।।३।।

विद्युद्दृष्टान्तेनात्यन्तदीप्तिमत्त्वं निमेषणदृष्टान्तेन देवैरपि दुर्ज्ञेयत्वमिति गुणद्वयं देवा[11]नधिकृत्य

ब्रह्म के विज्ञानपूर्वक अग्नि, वायु और इन्द्र इन देवताओं ने ही अत्यन्त समीप जाकर ब्रह्मविद्या द्वारा ब्रह्म का स्पर्श किया था अर्थात् पहले-पहल इन तीनों ने ही ब्रह्म को जाना था। इसीलिये वे अन्य देवताओं से बढ़े-चढ़े हैं। दूसरों से अधिक देदीप्यमान् होते हैं, उनमें भी देवराज इन्द्र अधिक दीप्तिमान् है क्योंकि सबसे पहले ब्रह्म का ज्ञान उस इन्द्र को ही हुआ था।।१-३।।

उस ब्रह्म का आगे कहे जाने वाला उपासना सम्बन्धी उपदेशरूप आदेश यह है क्योंकि ब्रह्म देवताओं के सामने विद्युत् की भाँति अकस्मात् ही प्रकट हो गया था। 'आ' शब्द उपमा के लिये है। अतः यह जो ब्रह्म प्रकाशमय है, वह विद्युत् के समान प्रकाशित हुआ। जैसे बिजली घने अन्धेरे को फाड़कर सभी ओर प्रकाशित हो जाती है, वैसे ही ब्रह्म देवताओं के सामने सभी ओर प्रकाशयुक्त हो प्रकट हो गया। इसीलिये वह विद्युत् की चमक के समान है। इस प्रकार उपासना करने योग्य है।

---

१. विद्याया एवोमात्वे स्मृतिं प्रमाणयति—विद्यासहायवानित्यादिम्। ईश्वरसहायभूता विद्या च सत्त्वप्रधाना मायाशक्तिरिति टीकानुनेतव्या। सा च शक्तिश्चित्संपर्कादेव बोधपदाभिलप्यावृत्तेः परिणामिनीत्वाद्बोधहेतुरिति विभावनीयम्। २. स्मृतिरिति— "उमासहायं परमेश्वरं प्रभु" मिति कैवल्यश्रुतिमूलेति भावः। ३. शक्तिरित्यन्तःकरणवृत्तिभेदो विवक्षितः। हेतुत्वाभिप्रायेण शक्तित्वोक्तिः।४. चित्तादात्म्यापत्त्येति—तादात्म्येन चिदभिव्यक्तिनिमित्तत्वादिति यावत्।५. बोधहेतुरिति—बोधो यथोक्तवृत्त्यभिव्यक्ता चिदेवेति ध्येयम्। ६. तस्मादित्यस्येति—तदादिवाक्यस्येत्यर्थः। ७.अपेक्षितमिति—स ह्येनदित्यादिवाक्यमिति शेषः। हेतुगर्भत्वाद-पेक्षितत्वादित्यर्थः। ८. पाठव्यत्यासेनेति—उत्तरपठितं पूर्वं पूर्वपठितं चोत्तरमित्यर्थः ९ अयमिति—तस्मादित्यादिना कृत इत्यर्थः। १०. विध्युपक्रमार्थमिति—तस्यैष इत्यादिनोपक्रमो विधेस्तदर्थमित्यर्थः। अर्थवादस्य विधिशेषत्वादिति भावः। ११. अधिकृत्येति—निमित्तीकृत्येत्यर्थः।

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा
वेदाः सर्वाङ्गानि (णि!) सत्यमायतनम्।।३३।।८।।

तप, दम कर्म, वेद और सम्पूर्ण वेदान्त ये सब उस (ब्राह्मी उपनिषद् का आश्रय है, प्राप्ति के साधन हैं) एवं सत्य भाषण उसका आयतन (निवास) है।।८।।

व्यावृत्तप्रत्यगात्मविषयनिष्ठत्वाच्च ब्रह्मविद्यायास्तत्फलस्य च निःश्रेयसस्य,

"मोक्षमिच्छन्सदा कर्म त्यजेदेव ससाधनम्।
त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम्"।।

तस्मात्कर्मणां सहकारित्वं [१]कर्मशेषापेक्षा वा न ज्ञानस्योपपद्यते। ततोऽसदेव सूक्तवाकानुमन्त्रणवद्यथायोगं विभाग इति। तस्मादवधारणार्थतैव प्रश्नप्रतिवचनस्योपपद्यते। [२]एतावत्येवेयमुपनिषदुक्ताऽन्यनिरपेक्षाऽमृतत्वाय।।३२।।७।।

यामिमां ब्राह्मीमुपनिषदं तवाग्रे[३]ऽब्रूमेति, तस्यै तस्या उक्ताया उपनिषदः प्राप्त्यु-

---

प्रत्यगात्मा स एवं ब्रह्मरूपेण विद्याया [४]व्यावर्तको विषयस्तन्निष्ठत्वाद्विद्यायास्तत्फलस्य च [५]कर्मवैलक्षण्या-दित्यर्थः।।३२।।७।।

तच्छब्दापेक्षितं यच्छब्दं पूरयति— यामिमामिति। [६]प्राप्तां [७]सगुणविषया निर्गुणब्रह्मात्मविषया

ब्रह्मविद्या और उसका फल मोक्ष, ये सभी प्रकार के विषयों से निवृत्त होकर अन्तरात्मरूप विषय में ही स्थित होते हैं। (इसीलिये अन्यत्र भी कहा है)

"मोक्ष चाहने वाला पुरुष साधन सहित कर्मों को सदा के लिये त्याग दे क्योंकि त्याग से ही त्यागी को अपने प्रत्यगात्म रूप परम पद का ज्ञान हो सकता है"।

अतः कर्म को ज्ञान का सहायक अथवा ज्ञान को कर्म का शेष कहना दोनों ही बातें सम्भव नहीं हैं। इसलिये सूक्तवाकरूप अनुमन्त्रण मन्त्रों के समान सम्बन्धानुसार इन तप आदि का भी विभाग हो सकता है, यह विचार ठीक नहीं है। इसलिये शिष्य के प्रश्न का उत्तर उपदेश अवधारण करने के लिये ही मानना उचित हे। तात्पर्य यह कि मोक्ष प्राप्ति के लिये अन्य साधन निरपेक्ष उपनिषद् बस इतनी ही है, जो मैंने तुझे बतलायी है।।७।।

---

१. कर्मशेषापेक्षेति—कर्मरूपो यः शेषोऽङ्गं, सहकारी वा तदपेक्षेत्यर्थः। २. पिप्पलादोक्तिवदेवास्यास्तात्पर्यमुक्तेरित्याह—एतावत्ये-वेति। ३. अब्रूमेतीति—संपातायातोऽयमितिशब्दः। उक्तप्रकारेणेत्यर्थको वा। तथा च—इत्युक्तप्रकारेण यां ब्राह्मीमुपनिषदं तवाग्रेऽब्रूमेत्यन्वयः। ४. व्यावर्तक इति—कर्मादिभ्य इति शेषः। ५. कर्मवैलक्षण्यादिति—कर्मफलवैलक्षण्यादिति यावत्। कर्मा-साध्यत्वमेव वा तद्वैलक्षण्यम्। ६. इदंशब्दार्थमाह—प्राप्तामिति। प्रकृतामित्यर्थः। ७. यच्छब्दं व्याचष्टे—सगुणेत्यादिना।

व्द्युतदिवेत्युपास्यम्। यथा सकृद्विद्युत्तमिति च वाजसनेयके। यस्माच्चेन्द्रोपसर्पणकाले न्यमीमिषत्। यथा कश्चिच्चक्षुर्निमेषणं कृतवानिति। इतीदित्यनर्थकौ निपातौ। निमिषितवदिव तिरोभूतमित्येवमधिदैवतं देवताया अधि यद्दर्शनमधिदैवतं तत् ।।२९।।४।।

अथानन्तरमध्यात्ममात्मनोऽध्यात्मविषयमध्यात्ममुच्यत इति वाक्यशेषः। यदेतद्यथोक्तलक्षणं ब्रह्म गच्छतीव प्राप्नोतीव विषयी करोतीवेत्यर्थः। न पुनर्विषयी करोति मनसोऽविषयत्वाद्ब्रह्मणोऽतो मनो न गच्छति। "येनाऽऽहुर्मनो मतम्"इति हि चोक्तम्। [१]गच्छतीवेति तु मनसोऽपि मनस्त्वात्। आत्मभूतत्वाच्च ब्रह्मणस्तत्समीपे मनो वर्तत [२]इत्युपस्मरत्यनेन मनसैवैतद्ब्रह्म विद्वान्यस्मात्तस्माद्ब्रह्म गच्छतीवेत्युच्यते। अभीक्ष्णं पुनः पुनश्च। संकल्पो ब्रह्मप्रेषितस्य मनसः। अत उपस्मरणसंकल्पादिभि[३]र्लिङ्गैर्ब्रह्म मनोऽध्यात्मभूत[४]मुमास्यमित्यभिप्रायः ।।३०।।५।।

विवक्षितम्। अत एव तद्गुणद्वयविशिष्टोपासनमाधिदैविकमुच्यते।।२९।।४।।

अहंग्रहेणैवैतत्कर्तव्यमित्यभिप्रेत्याऽऽध्यात्मिकब्रह्मरूपमाह—[६]आत्मेत्यादिना ।।३०।।५।।

जैसा वाजसनेयी श्रुति में भी **"यथा सकृद्विद्युत्तम्"** कहा गया है, क्योंकि इन्द्र के समीप आते ही ब्रह्म (नेत्र बन्द करने के समान सहसा) तिरोहित हो गया था, मानो किसी ने आँख मूँद ली हो। अतः वह ब्रह्म नेत्र बन्द करने के समान तिरोहित हुआ। इस प्रकार वह अधिदैवत ब्रह्म दर्शन है। देवता से सम्बन्ध रखने वाला जो दर्शन होता है, उसे अधिदैवत दर्शन कहते हैं। 'इति' और 'इत्' ये दोनों निपात यहाँ पर कुछ अर्थ नहीं रखते हैं।।४।।

इसके आगे अब आत्मविषयक अध्यात्म दर्शन कहा जाता है। इस वाक्य में "उच्यते" यह क्रियापद शेष है। यह जो मन पूर्वोक्त लक्षण वाले ब्रह्म के प्रति जाता हुआ-सा प्रतीत होता है अर्थात् ब्रह्म को विषय करता-सा जान पड़ता है। इस प्रकार ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। वस्तुतः मन ब्रह्म को विषय नहीं करता क्योंकि ब्रह्म मन का अविषय है। इसलिये वहाँ तक वह मन पहुँच नहीं सकता। ऐसा ही पहले कह चुके हैं "जिससे मन मनन किया हुआ कहा जाता है"। इसीलिये मन का भी मन होने के कारण माना जाता है, ऐसा कहा गया है। ब्रह्म का स्वरूपभूत होने के कारण मन उसके समीप रहता है क्योंकि विद्वान् इस मन से ही उस ब्रह्म का संस्मरण करते हैं। इसीलिये ब्रह्म के समीप मन जाता हुआ-सा कहा जाता है। ब्रह्म के द्वारा प्रेरित मन में बारंबार संकल्प होता रहता है। अतः स्मरण और संकल्प आदि लिंगों से अध्यात्म रूप से ब्रह्मोपासना करनी चाहिये।।५।।

---

१. आध्यात्मिकं तादात्म्यमुररीकृत्याह—गच्छतीवेति त्विति। २. इत्युपस्मरतीति—अनेन समीपवर्तित्वेन मन्मनसा स्मर्यमाणमभीक्ष्णं सङ्कल्प्यमानं मनसः प्रत्यग्रूपं ब्रह्माहमस्मीत्यध्यात्मोपासनस्वरूपं सूचितं भवतीति विज्ञेयम्। ३. लिङ्गैरिति—आत्मानुगतिमन्तरेण जडस्य मनसः स्मरणादिपरिणामासंभवात्तेषां तल्लिङ्गत्वमिति भावः। ४. मनोऽध्यात्मभूतमिति—अत्र मनसोऽध्यात्मभूतमिति पाठं सम्यञ्चं प्रतिपद्ये। ५. उपास्यमिति—मनसोऽप्यात्मभूतं ब्रह्माहमस्मीत्येवमुपासितव्यमित्यर्थः। ६. आत्मेत्यादिनेति—अत्र अध्यात्मेत्यादिनेति लिखितपुस्तकपाठः।

पायभूतानि तपआदीनि। तपः कायेन्द्रियमनसां समाधानम्। दम उपशमः। कर्माग्निहोत्रादि। एतैर्हि संस्कृतस्य सत्त्वशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञानोत्पत्तिर्दृष्टा ह्यमृदितकल्मषस्योक्तेऽपि ब्रह्मण्यप्रतिपत्तिर्विपरीतप्रतिपत्तिश्च यथेन्द्रविरोचनप्रभृतीनाम्। तस्मादिह वाऽतीतेषु वा बहुषु जन्मान्तरेषु तपआदिभिः कृतसत्त्वशुद्धेर्ज्ञानं समुत्पद्यते यथाश्रुतम्।

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः"।।

इतिमन्त्रवर्णात्। "ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां [२]क्षयात्पापस्य कर्मणः" इति स्मृतेः। इतिशब्द उपलक्षणप्रदर्शनार्थः। इत्येवमाद्यन्यदपि ज्ञानोत्पत्तेरुपकारकममानित्वमदम्भित्वमित्याद्युपदर्शितं भवति। प्रतिष्ठा पादौ पादाविवास्यास्तेषु हि सत्सु प्रतितिष्ठति ब्रह्मविद्या प्रवर्तते पद्भ्यामिव पुरुषः। वेदाश्चत्वारः सर्वाणि चाङ्गानि

ब्रह्मविद्या के साधन

हमने जिस ब्राह्मी उपनिषत् का वर्णन तेरे सामने किया है। उस पूर्वोक्त उपनिषत् की प्राप्ति के साधन तप आदि हैं। शरीर, इन्द्रिय और मन के समाधान को तप कहते हैं। विषयों से निवृत्त होने को दम कहते हैं और अग्निहोत्रादि को कर्म कहते हैं। इनके अनुष्ठान से संस्कारयुक्त पुरुषों को ही चित्तशुद्धि द्वारा तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति देखी गयी है। जिनका मनोमल मिटा नहीं, उन पुरुषों को उपदेश करने पर भी ब्रह्मविषयक अज्ञान और विपरीत ज्ञान होता देखा गया है। जैसे इन्द्र और विरोचन आदि का (उदाहरण प्रसिद्ध है)। अतः इस जन्म या पिछले अनेकों जन्मों में तप आदि के अनुष्ठान से विशुद्ध बुद्धि वाले पुरुष को ही श्रोत ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है।

"जिसकी परमेश्वर में अनन्य भक्ति है और जैसी परमेश्वर में भक्ति है, वैसे ही गुरु में भी है। उसी महात्मा के समक्ष कहे हुए पूर्वोक्त विषय प्रकाशित होते हैं", इस मन्त्रवर्ण से तथा "पाप कर्मों के क्षीण हो जाने पर पुरुषों को ज्ञान उत्पन्न होता है" इस स्मृति से भी यही प्रमाणित होता है। मूल मन्त्र में 'इति' शब्द अन्य साधनों के उपलक्षणत्व दिखलाने के लिये है अर्थात् ऐसे ही ज्ञान उत्पत्ति के **"अमानित्वम् अदम्भित्वम्"** इत्यादि उपकारक अन्य साधन भी प्रदर्शित हो जाते हैं। चरणों को प्रतिष्ठा कहते हैं क्योंकि ये चरणों की भाँति उस ब्रह्मविद्या के आधारभूत हैं। जैसे पुरुष अपने पैरों के सहारे खड़ा होकर व्यापार करता है, वैसे ही इन साधनों के रहने पर ही ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठित होती है। और प्रवृत्त होती है एवं ऋगादि चारों वेद, शिक्षादि छः उनके अंग (भी ब्रह्मविद्या की प्रतिष्ठा) कर्म

---

१. ईश्वरार्पणाधियाऽनुष्ठीयमानं तपःप्रभृतिसर्वं भगवद्भक्तावेवान्तर्भवतीत्यभिप्रेत्याह—यस्येत्यादि। २. क्षयात्पापस्येति—स च तपआद्यायत्त एवेति भावः।

तस्य चा[१]ध्यात्ममुपासने गुणो विधीयते तद्ध तद्वनं तदेतद्ब्रह्म [२]तच्च तद्वनं च तत्परोक्षं वनं संभजनीयम्। वनतेस्तत्कर्मणस्तस्मात्तद्वनं नाम। ब्रह्मणो गौणं हीदं नाम। तस्मादनेन[३] गुणेन तद्वनमित्युपासितव्यम्। स यः कश्चिदेतद्यथोक्तमेवं यथोक्तेन गुणेन तद्वनमित्यनेन नाम्नाऽभिधेयं ब्रह्म वेदोपास्ते। तस्यैतत्फलमुच्यते। सर्वाणि भूतान्येनमुपासकमभि-संवाञ्छन्तीहाभिसंभजन्ते सेवन्ते स्मेतयर्थः। [४]यथागुणोपासनं हि फलम् ।।३१।।६।।

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्तायामप्युपनिषदि शिष्येणोक्त आचार्य आह—उक्ता

वनतेस्तत्कर्मण इति। **वन संभजन इत्यस्य धातोः संभजनार्थस्य रूपं वनमिति। [५]तत्प्रसिद्धं वनं न गृह्यत इत्यर्थः।** गौणमिति। **[६]अवयवशक्तिलभ्यं न रूढ्या [७]समुदायशक्त्येत्यर्थः।।३१।।६।।**

उस ब्रह्म की अध्यात्म उपासना में गुण का विधान किया जाता है, "वह ब्रह्म तद्वन है" "**ह तद्**" परोक्ष अर्थ में है। "**वन**" शब्द सम्भजनीय अर्थ में है (क्योंकि 'वन' धातु का अर्थ अच्छी प्रकार से भजन करना माना गया है।) जिस '**वन**' धातु का कर्म '**तद्**' शब्द है' उसी '**वन**' धातु से '**तद्वन**' शब्द बनता है। अतः उस ब्रह्म का '**तद्वन**' नाम गुण विशेष के कारण है। इसी सम्भजनीय गुणों के कारण वह '**तद्वन**' है, इस प्रकार उपासना करने योग्य है। वह जो भी कोई पुरुष पूर्वोक्त गुणों के कारण पहले बतलाये गये '**वन**' इस नाम से वनपदाभिधेय ब्रह्म की उपासना करता है, उस साधक के लिये यह फल बतलाया जाता है। इस उपासक की प्रार्थना सभी प्राणी करते हैं। तात्पर्य यह कि सभी प्राणी उसका भजन-पूजन करते हैं। यह प्रसिद्ध है कि जैसे गुण वाले की उपासना की जाती है, तदनुरूप ही उसे फल मिलता है।।६।।

आचार्य के द्वारा इस प्रकार उपनिषत् कहे जाने पर भी जब शिष्य ने कहा कि हे भगवन्!

---

१. अध्यात्ममुपासने गुणो विधीयत इति—तथा च पूर्वोक्तोपासनस्वरूपे ब्रह्मशब्दात्पूर्वं तद्वनं शब्दो निवेश्य इति भावः। २. तद्वनपदे कर्मधारयं सूचयति—तच्चेत्यादिना। ३. अनेन गुणेनेति—परोक्षत्वे सति संभजनीयत्वेन रूपेणेत्यर्थः। ४. यथागुणेत्यादि—'तं यथा यथोपासत' इत्यादि श्रुतेरिति भावः। ५. प्रसिद्धं वनमरण्यमित्यर्थः। ६. योगाद्रूढिर्बलीयसीति मनसिकृत्य गौणपदार्थमाह—अवयवेत्यादिना। ७. समुदायशक्त्येति—लभ्यमित्यनुषङ्गः। वाचकमिति तदर्थः। एतेन शक्तिलभ्यस्य वाच्यत्वनियमाद्वाचकस्य लभ्यत्वोक्तिरसंगतेत्यपास्तम्।

शिक्षादीनि षट्कर्मज्ञानप्रकाशकत्वाद्वेदानां तद्रक्षणार्थत्वादङ्गानां प्रतिष्ठात्वम्। अथवा प्रतिष्ठाशब्दस्य पादरूपकल्पनार्थत्वाद्वेदास्त्वितराणि सर्वाङ्गानि (णि?) शिरआदीनि। अस्मिन्पक्षे शिक्षादीनां वेदग्रहणेनैव ग्रहणं कृतं प्रत्येतव्यम्। अङ्गिनि गृहीतेऽङ्गानि गृहीतान्येव भवन्ति। तदायतनत्वादङ्गानाम्। सत्यमायतनं यत्र तिष्ठत्युपनिषत्तदायतनं सत्यमिति। अमायिताऽकौटिल्यं वाङ्मनःकायानां तेषु ह्याश्रयति विद्या येऽमायाविनः साधवः। नासुरप्रकृतिषु मायाविषु। "[१]न येषु जिह्ममनृतं न माया च" इति श्रुतेः। तस्मा[२]त्सत्यमायतनमिति कल्प्यते। तपआदिष्वेव प्रतिष्ठात्वेन प्राप्तस्य सत्यस्य पुनरायतनत्वेन ग्रहणं साधनातिशयत्वज्ञापनार्थम्।

"अश्वमेधसहस्त्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।

अश्वमेधसहस्त्राच्च सत्यमेकं विशिष्यते" इति स्मृतेः ।।३३।।८।।

चेत्यर्थः। पादरूपकल्पनेति। प्रसिद्धपादसामान्यस्य कल्पितत्वादितरैरप्यङ्गैः कल्पनारूपैर्भवितव्यमित्यर्थः। तस्यै तपो दमः कर्मेत्यत्रत्येतिशब्दस्योपलक्षणार्थत्वात्सत्यमपि संग्रहीतव्यं कथं पृथगुच्यत इत्याशङ्क्याऽऽह— तपआदिष्वेवेति।।३३।।८।।

और ज्ञान के प्रकाशित होने से वेदों को और उनके रक्षक होने से वेदांगों को ब्रह्मविद्या की प्रतिष्ठा कहना उचित ही है।

अथवा प्रतिष्ठा शब्द की चरणरूप से कल्पना की गयी है। इसीलिये वेद उस ब्रह्मविद्या के मस्तक आदि अन्य सम्पूर्ण अंग हैं। इस पक्ष में शिक्षा आदि का वेद के ग्रहण से ही गृहीत समझ लेना चाहिये क्योंकि अंगी के अधीन ही अंग होते हैं। अतः अंगी के गृहीत हो जाने पर उसके अंग सुतराम् गृहीत हो जाते हैं।

सत्य आयतन है। जहाँ वह उपनिषत् रहती है, वही उसका आयतन माना जाता है। वाणी, मन. और शरीर की अकुटिलता को सत्य कहते हैं। तात्पर्य यह कि जो लोग अमाया और शुद्ध स्वभाव हैं, उन्हीं में ब्रह्मविद्या आश्रय लेती है न कि आसुरी प्रकृति वाले मायावियों में। ऐसा ही "जिनमें कुटिलता, मिथ्या और माया नहीं है" इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है। अतः सत्य उस ब्रह्मविद्या का आश्रय है, ऐसी कल्पना की जाती है। तप आदि में ब्रह्मविद्या की प्रतिष्ठारूप से सत्य का अन्तर्भाव हो जाने पर भी पुनः आयतन रूप से सत्य को कहना उसमें अतिशय साधनत्व दिखलाने के लिये है।

यही बात सहस्र अश्वमेध और सत्य तुला पर रखने के बाद हजार अश्वमेधों की अपेक्षा अकेला सत्य ही विशेष हो जाता है" इस स्मृति से भी सिद्ध होता है।।८।।

---

१. न येष्वित्यादि—तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोक इत्यादिः प्र० १।१६। २. पादादिकल्पनया देहिनीत्वसम्पत्तौ निवासाय गेहेनापि भवितव्यमित्याशयेनाह—सत्यमायतनमिति कल्प्यत इति। आयतनं गेहम्।

कथिता ते तुभ्य[1]मुपनिषदात्मोपासनं च। अधुना ब्राह्मीं वाव ते तुभ्यं ब्रह्मणो ब्राह्मण-जातेरूपनिषदमब्रूम वक्ष्याम इत्यर्थः। [2]वक्ष्यति हि। [3]ब्राह्मी नोक्ता। [4]उक्त त्वात्मोपनिषत्। [5]तस्मान्न भूताभिप्रायोऽब्रूमेत्ययं शब्दः।।३२।।७।।

तस्यै तस्या [6]वक्ष्यमाणाया उपनिषदस्तपो ब्रह्मचर्यादि दम उपशमः कर्माग्निहोत्रा-दीत्येतानि प्रतिष्ठाऽऽश्रयः। एतेषु हि सत्सु ब्राह्म्युपनिषत्प्रतिष्ठिता भवति। वेदाश्चत्वा-

---

ब्राह्मणजातेरुपनिषदमिति। [7]ब्राह्मणजात्यनुष्ठेयां विद्यामात्मज्ञानसाधनभूतामित्यर्थः।।३२।।७।।

ब्रह्मेति वेदस्तन्मूलत्वात्तदाश्रया।।३३।।८।।

मुझे उपनिषत् बतलावें। शिष्य के ऐसा कहने पर आचार्य ने कहा कि हमने तुझे उपनिषत् और आत्मा की उपासना बतला दी है; अब हम तुझे ब्राह्मण जाति की उपनिषत् सुनाते हैं, जो आगे कही जायगी। अब तक ब्राह्मी उपनिषत् नहीं कही गयी थी, केवल आत्म सम्बन्धी उपनिषत् ही बतलायी गयी थी। इसीलिये मन्त्र में आये हुए **"अब्रूम"** इस क्रिया वाचक शब्द से भूतकाल का अभिप्राय मानना अभीष्ट नहीं है।।७।।

आगे बतलायी जाने वाली उस उपनिषत् की ब्रह्मचर्यादिरूप तप, इन्द्रिय निग्रह रूप दम और अग्निहो-त्रादि रूप कर्म—ये सब प्रतिष्ठा हैं क्योंकि इनके रहने पर ही ब्राह्मी उपनिषत् प्रतिष्ठित होती है। चारों वेद तथा सम्पूर्ण वेदांग भी उसकी प्रतिष्ठा ही है। यहाँ भी प्रतिष्ठा पद की अनुवृत्ति आ

---

१. उपनिषदित्यात्मज्ञानमात्मोपासनं च विवक्षितमित्याशयेनाह—उपनिषदात्मोपासनं चेति। २. वक्ष्यति हीति—ब्राह्मीमिति शेषः। ३. कुतो वक्ष्यतीत्यत आह—ब्राह्मी नोक्तेति। ब्राह्मणानुष्ठेयसाधनविद्या यतो नाधुनावध्युक्तेत्यर्थः। ४. का तर्ह्यधुनावध्युक्तेत्यत्राह—उक्ता त्वात्मोपनिषदिति। साध्यविद्यैवोक्तैतावदित्यर्थः। ५. तस्मादिति—ब्राह्म्या वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः। ६. वक्ष्यमाणाया इति—उक्ताया एवोपनिषदः साध्यत्वेन वक्ष्यमाणतपःप्रभृतिसाधनविशिष्टत्वोक्त्यभिप्रायाद्वक्ष्यमाणत्वं तपःप्रभृत्यतिरिक्ताया उपनिषदोऽनन्तरमनुक्तेरित्यरवधेयम्। यद्वा वक्ष्यमाणतपःप्रभृत्यङ्गकलाप एवाङ्गिन्युपनिषद्ब्राह्मी। अङ्गसमूहानतिरिक्तत्वादङ्गिनः। तदा च सर्वं यथोक्तमित्यस्य तपःप्रभृत्येवार्थः। ७. ब्राह्मणजात्यनुष्ठेयामिति—सत्त्वाधिक्याद्ब्राह्मणेन सुखानुष्ठेयामिति यावत्।

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाम्मानमनन्ते स्वर्गे लोके
ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ।।३४।।९।।

इति चतुर्थः खण्डः ।।४।।

जो कोई निश्चयपूर्वक इस उपनिषद् को इस प्रकार जानता है वह पाप का ध्वंस कर अनन्त एवं महान् स्वर्ग लोक में प्रतिष्ठित होता है, फिर वह संसार में जन्म नहीं लेता है।।९।।

।। चतुर्थः खण्ड इति केनोपनिषद् समाप्ता ।।

यो वा एतां ब्रह्मविद्यां केनेषितमित्यादिना यथोक्तामेवं महाभागां ब्रह्म ह देवेभ्य इत्यादिस्तुतां [१]सर्वविद्याप्रतिष्ठां [२]वेदामृतत्वं हि विन्दत इत्युक्तमपि ब्रह्मविद्याफलमन्ते निगमयते—[३]अपहत्य पाप्मानमविद्याकामकर्मलक्षणं संसारबीजं विधूयानन्तेऽपर्यन्ते। स्वर्गे लोके सुखात्मके ब्रह्मणीत्येतत्। अनन्त इति विशेषणान्न [४]त्रिविष्टपे। अनन्तशब्द औपचारिकोऽपि स्यादित्यत आह—ज्येय इति। ज्येये ज्यायसि सर्वमहत्तरे

---

[५]सगुणविद्यायाः क्रममुक्त्यर्थत्वात्क्रमेण प्राप्यं यत्कैवल्यं [६]निर्गुणविद्याफलं तत्पूर्वोक्तमिहोपसंह्रियत इत्याह— यो वा एतामित्यादिना ।।३४।।९।।

ग्रन्थानुशीलन का फल

"केनेषितम्" इत्यादि वाक्य से बतलाई गई तथा **"ब्रह्म ह देवेभ्यः"** इत्यादि आख्यायिका द्वारा प्रशंसित इस भाग्यशालिनी सम्पूर्ण विद्याओं की आधार रूपा ब्रह्मविद्या को जो पुरुष जानता है, वह अविद्या, कामना और कर्मरूप संसार के बीजभूत पाप को छोड़कर अनन्त स्वर्गलोक में स्थित हो जाता है। जिसका कोई पार नहीं, ऐसे अन्तरहित सबसे महान् ब्रह्मस्वरूप अपने आत्मा को ही अनन्त स्वर्ग पद से कहा गया है। अर्थात् वह फिर संसार को प्राप्त नहीं होता। यद्यपि **"अमृतत्वं हि विन्दते"** इस वाक्य द्वारा पहले ब्रह्मविद्या का फल बतलाया जा चुका है, तथापि इस वाक्य द्वारा अन्त में उसका पुनः उपसंहार करते हैं। अनन्त ऐसा विशेषण होने के कारण **'स्वर्गे लोके'** इस वाक्य से देवलोक नहीं

---

१. सर्वविद्याप्रतिष्ठामिति—सर्वासु विद्यासु प्रतिष्ठा पूज्यत्वमुत्कर्षो यस्यास्ताम्। "अध्यात्मविद्या विद्यानामिति" भगवदुक्तेः। सर्वासां विद्यानां प्रतिष्ठा परिसमाप्तिर्वा यत्र तां "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यत" इति तदुक्तेः कर्मविद्योपलक्षणम्। २. वेदेति—तस्येति शेषः। ३. अपहत्येति—स इत्यादिः। ४. त्रिविष्टप इति—'सुरलोको द्योदिवौ द्वे स्त्रियां क्लीबे त्रिविष्टप' मित्यमरः। ५. मुख्यतात्पर्यमादायाह—सगुणेत्यादि। ६. निर्गुणेति—साक्षादित्यादिः।

रोऽङ्गानि च सर्वाणि। प्रतिष्ठेत्यनुवर्तते। ब्रह्माश्रया हि विद्या। सत्यं यथाभूतवचनमपीडाकरमायतनं न्विासः सत्यवत्सु हि [१]सर्वं यथोक्तमायतन इवावस्थितम् ।।३३।।८।।

तामेतां [२]तपआद्यङ्गां तत्प्रतिष्ठां ब्राह्मीमुपनिषदं सायतनामात्मज्ञानहेतुभूतामेवं यथावद्यो वेदानुवर्ततेऽनुतिष्ठति तस्यैतत्फलमाह—अपहत्य पाप्मानम्। अपक्षय्य (क्षीय) धर्माधर्मावित्यर्थः। अनन्तेऽपारेऽविद्यमानान्ते। स्वर्गे लोके सुखप्राये निर्दुःखात्मनि परे ब्रह्मणि। ज्येये महति सर्वमहत्तरे प्रतितिष्ठति सर्ववेदान्तवेद्यं ब्रह्माऽऽत्म-

---

[३]तपआदीनि [४]वेदाङ्गान्यङ्गानि यस्याः ।।३४।।९।।

सत्यकामः स्वयं सिद्धः सर्वेशो यः स्वशक्तितः।
स एवान्तःप्रविष्टोऽहमुपास्यः सर्वदेहिनाम् ।।१।।

इति चतुर्थः खण्डः ।।४।।

जाती है क्योंकि विद्या वेद के आश्रित ही रहती है। दूसरे को पीड़ा न पहुँचाने वाले, यथार्थ भाषण को सत्य कहते हैं। यह सत्य उसका निवास स्थान है क्योंकि सत्यवादी पुरुषों में ही पूर्वोक्त साधन आयतन की भाँति स्थित होते हैं ।।८।।

तप आदि अंगों वाली और उन्हीं पर आश्रित आत्मज्ञान के हेतुभूत इस ब्राह्मी उपनिषत् को आयतन के सहित पूर्वोक्त रीति से जो ठीक-ठीक जान लेता है अर्थात् जो उसका अनुष्ठान करता है, उसी के लिये यह फल बतलाया गया है। वह धर्माधर्म रूप पाप को नष्ट कर अन्त रहित, दुःख से शून्य, आनन्द बहुल सर्वोत्कृष्ट परब्रह्म परमात्मा में प्रतिष्ठित हो जाता है अर्थात् सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों

---

१. सर्वं यथोक्तमिति—आत्मज्ञानमात्मोपासनं च तपःप्रभृत्यपि। २. तपआद्यङ्गामिति—द्वितीयकल्पे तपआद्यङ्गसमूहात्मकतया तपआदिरूपामित्यर्थः। ३. तपआदीनीत्यादि—अत्र तपआदीन्यङ्गानि यस्या इत्येतावदेव युक्तं पश्यामः। यथाश्रुते तु वेदग्रहणेऽङ्गभूतानि तपआदीन्यङ्गानि यस्या इति व्याख्येयम्। ४. वेदाङ्गेति—वस्तुतस्त्वत्र वेदाङ्गान्तान्यङ्गानि यस्या इत्येव युक्ततरः पाठः। सत्यस्यायतनत्वेन सायतनामिति वक्ष्यमाणत्वात्तद्वर्जमेव तपआद्यङ्गामित्यत्राङ्गत्वेनादिशब्दग्राह्यमित्यभिप्रायादित्यवधेयम्।

सह ना० आप्यायन्तु०। इति सामवेदीय-
तलवकारोपनिषत्समाप्ता।

---

[१]स्वात्मनि मुख्य एव प्रतितिष्ठति। न पुनः संसारमापद्यत इत्यभिप्रायः ।।३४।।९।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ
केनोपनिषत्पदभाष्ये चतुर्थः खण्डः ।।४।।
समाप्तमिदं श्रीमच्छंकराचार्यविरचितं तलवकारोपनिषदपर-
पर्यायकेनोपनिषत्पदभाष्यम्।

योऽसौ सर्वेश्वरो विष्णुः सर्वात्मा सर्वदर्शनः।
शुद्धो बोधाम्बुधिः साक्षात्सोऽहं नित्योऽभयः प्रभुः।।१।।

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यश्रीमदानन्द-
ज्ञानकृतौ श्रीमच्छांकरतलवकारोपनिषदपरपर्यायकेनोपनिष-
त्पदभाष्यटिप्पणं संपूर्णम्।।

समझना चाहिये। उसमें भी औपचारिक दृष्टि से अनन्त शब्द की प्रवृत्ति हो सकती थी। अतः 'ज्येये' यह विशेषण भी दे दिया गया है।।९।।

।। इति चतुर्थ खण्ड ।।

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्ययतीन्द्रकुलतिलककैलासपीठाधीश्वर-
महामण्डलेश्वरस्वामिविद्यानन्दगिरिविरचिता-केनोपनिषच्छङ्करभगव-
त्पादरचितपदभाष्यस्य विद्यानन्दीमिताक्षराहिन्दीव्याख्या समाप्ता
श्रीशङ्करः प्रीयताम्।

---

१. स्वात्मनि मुख्य एवेति मुख्यानन्तत्ववति स्वात्मरूप एव स्वर्गे लोक इत्यर्थः।

श्रीमदानन्दगोविन्दगिरिनाम गुरोर्मुखात्।
अधीत्य विष्णुदेवेन निरमायि सुटिप्पणम्।।

इति श्रीमन्महामण्डलेश्वरस्वामिगोविन्दानन्दपादशिष्यविद्यावाचस्पतिश्रीमन्महामण्डलेश्वरस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरि-
विरचिता 'गोविन्दप्रसादिनी' टिप्पणी समाप्तिङ्गता।

त्वेनावगम्य तदेव ब्रह्म प्रतिपद्यत इत्यर्थः ।।३४।।९।।

इति चतुर्थः खण्डः।।४।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पादपूज्यशिष्य-
श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ
तलवकारोपनिषदपरपर्यायकेनोपनिषद्भाष्ये[1]क्षुद्र-
गणवाक्यविवरणं समाप्तम्।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ समावेदीय-
तलवकारशाखोपनिषत्क्षुद्रगणे वाक्यविवरणे भाष्ये श्रीमत्परमहंस-
परिव्राजकाचार्य श्री मदानन्दज्ञानविरचिता व्याख्या समाप्ता ।।

से जानने योग्य ब्रह्म को आत्मभाव से अपरोक्ष जानकर उस ब्रह्म को ही प्राप्त हो जाता है।।९।।

।। इति चतुर्थः खण्डः।।

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्ययतीन्द्रकुलतिलककैलासपीठाधीश्वर-
महामण्डलेश्वरस्वामिविद्यानन्दगिरिविरचिता केनोपनिषच्छङ्करभगवत्पा-
दरचितवाक्यभाष्यस्य 'विद्यानन्दीमिताक्षरा' हिन्दीव्याख्या समाप्ता।
श्रीशङ्करःप्रीयताम्।

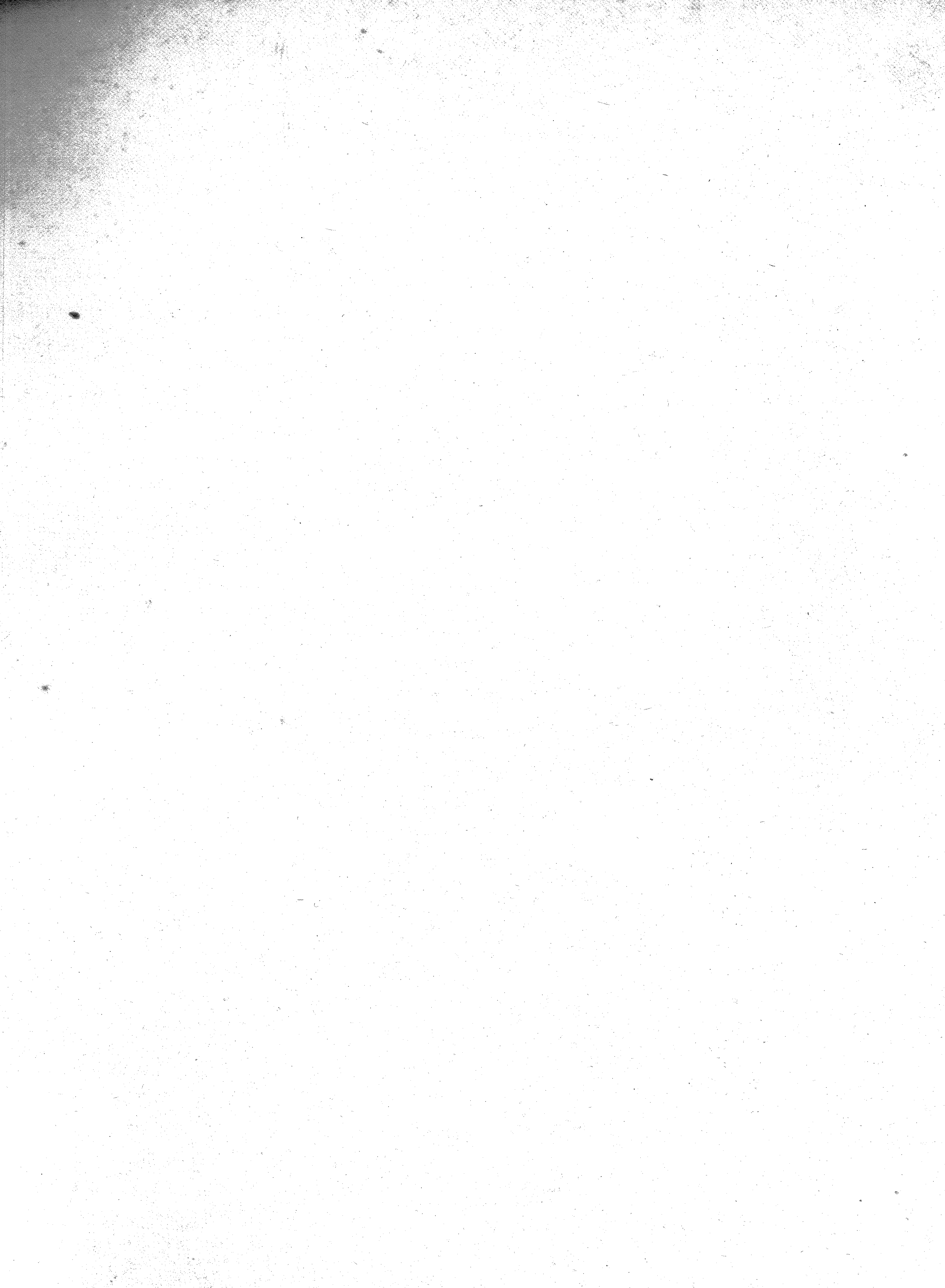
क्षुद्रगणो-स्वल्पसमूहे।

श्रीमदानन्द गोविन्द गिरि नाम गुरोर्मुखात्।
अधीत्य विष्णुदेवाख्याभिक्षुणाऽकारि टिप्पणम्।।

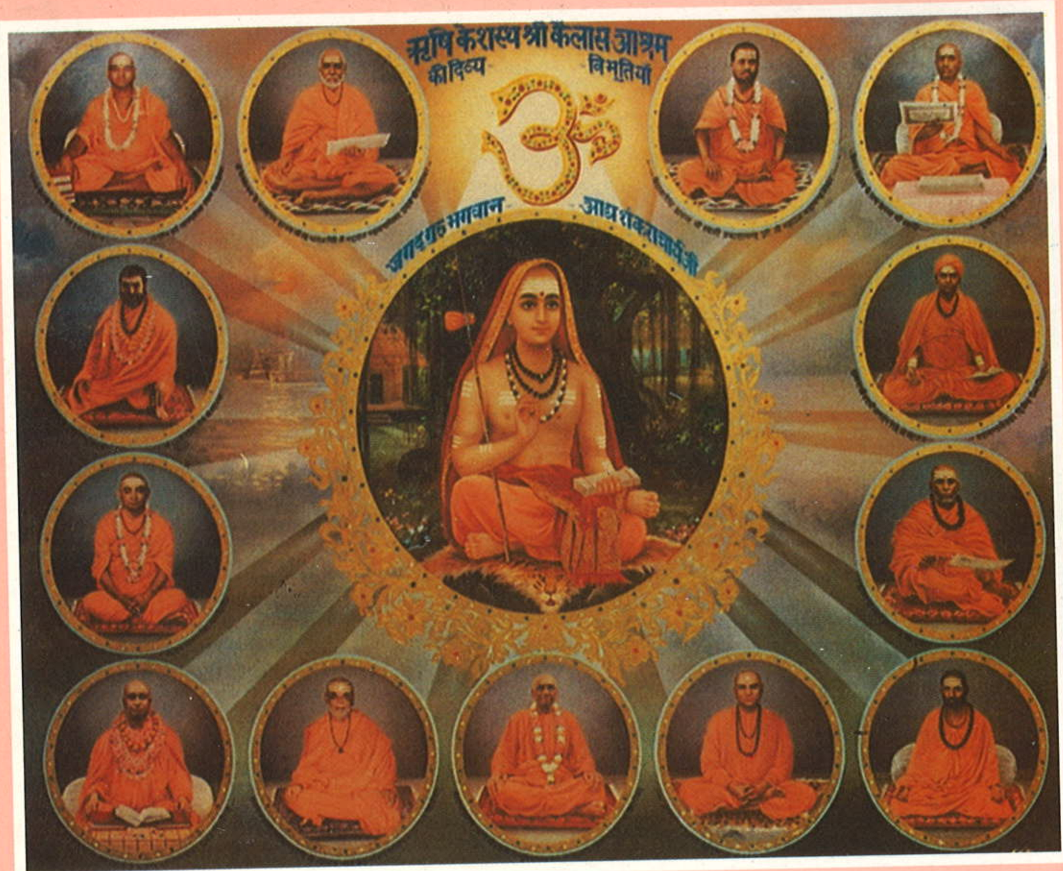
इतिश्रीमन्महामण्डलेश्वरस्वामिगोविन्दानन्दगिरिपादशिष्यविद्यावाचस्पतिश्रीमन्महामण्डलेश्वर-
स्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिविरचिता 'गोविन्दप्रसादिनी' टिप्पणी समाप्तिङ्गता।

अथास्याः केनोपनिषदो मन्त्रप्रतीकानां वर्णानुक्रमणिका

समाप्तिमगमदियं वर्णानुक्रमणिका।



कैलास ब्रह्मविद्यापीठ की दिव्य विभूतियाँ



देवानुग्रह त्रिदशक महोत्सव प्रसंग पर प्रकाशित

'केनोपनिषत्'

सौजन्य :

स्वर्गीय श्री डूंगर मल जी की पुण्य स्मृति में उनके सुपुत्र
श्री रामनिवास सिंहल बी-२४०, फेज़-।, अशोक विहार, दिल्ली-५२

श्री कैलास विद्या प्रकाशन